सत्तासिद्धि

भाग-1

(पंचास्तिकाय संग्रह की
गाथा 1 से 26 तक की टीका)

– डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

सत्तासिद्धि

(पंचास्तिकाय संग्रह की गाथा 1 से 26 तक की टीका)

भाग–1

लेखिका

विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

बी.ए.ऑनर्स, एम.ए., पी.एच.डी. (स्वर्णपदक प्राप्त)

मो. 09321295265 / Email: dpptmumbai@gmail.com

मुंबई (महाराष्ट्र)

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए–4, बापूनगर, जयपुर – 302015

फोन : (0141) 2705581, 2707458

E-mail : ptstjaipur67@gmail.com

सत्तासिद्धि भाग–1 : **डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया**

प्रथम संस्करण : 1000
(26 मार्च, 2025)

मूल्य : **बीस रुपये**

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1.	श्रीमती कमला भारिल्ल	500/-
2.	श्रीमती मधु अश्विनी जी जैन नेमीसागर कॉलोनी, जयपुर	1100/-
3.	श्री महेश जे. पारेख, मुम्बई	1000/-
	परमागम के विद्यार्थियों को सप्रेम भेंट	
4.	प्रमोद शाह	1000/-
5.	नरेश जैन, वंदना जैन, गुड़गाँव	2100/-
	कुल	5,700/-

मुद्रक :
देशना एन्टरप्राईजेज
जयपुर

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक '**सत्तासिद्धि भाग-1**' की लेखिका डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया बचपन से ही प्रतिभाशाली रही हैं। उन्होंने पूत के लक्षण पालने में ही नज़र आ जाते हैं – कहावत को चरितार्थ किया है। विद्वत्ता की दृष्टि से वे पिताश्री डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के पदचिन्हों पर ही चल रही हैं। उनके द्वारा अभी तक छोटी-बड़ी 60 पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं; जो आपकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रमाण हैं। जैनदर्शन के सभी महत्वपूर्ण विषयों पर आपकी लेखनी चली है।

साथ-ही-साथ आपने जैन सिद्धान्तों पर आधारित अनेक 'गेम्स' भी बनाए हैं, जिनके खेलने के नियम भी जैन सिद्धान्तों का ज्ञान कराते हैं। इन 'गेम्स' की विशेषता यह है कि इनको खेलने से बच्चों को सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ अहिंसात्मक आचरण की प्रवृत्ति भी सहज विकसित हो जाती है। इनमें जीत हिंसात्मक कार्य मार-पीट से नहीं, ज्ञान-ध्यान से हासिल की जाती है। बच्चों को ज्ञान-ध्यान करने की प्रेरणा मिलती है।

आपने 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार एक समालोचनात्मक अध्ययन' विषय पर शोध कर राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है। आपने अपने शोध ग्रन्थ में शोध समीकरणों (rules and regulations) को ध्यान में रखते हुए आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों और टीकाकारों का सर्वांगीण (सम्पूर्ण) विवेचन सरल-सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया है, जो कि विद्वत्जन और बुद्धिजीवी वर्ग के साथ-साथ जनसामान्य को भी अपनी ओर आकृष्ट (attract) करता है। यही कारण है कि 'परमागम ऑनर्स' के पंचवर्षीय पाठ्यक्रम में यह पुस्तक शामिल की गई है।

आपके द्वारा लिखी गई बाल पुस्तकें भी अद्यावधि (अब तक) जैन समाज में प्रचलित अन्य पाठ्यपुस्तकों से भिन्न शैली, रंगीन चित्रमय प्रस्तुति एवं मूल तत्वज्ञान के समावेश के कारण अपनी विशिष्ट पहचान रखती हैं।

आपकी सभी कृतियाँ अध्यात्मरस से सराबोर और भेदज्ञान से ओतप्रोत हैं। आप विभिन्न आयुवर्ग को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न शैली में अध्यात्म को सरल भाषा में जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास कर रही हैं।

जिन्हें आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार, पंचास्तिकाय संग्रह, अष्टपाहुड आदि ग्रन्थों का गहराई से अध्ययन-मनन करना है व ध्यान के प्रारम्भिक रूप की गहराइयों में उतरना है, उनके लिए आपने - **सिद्धान्त विशारद** का पंचवर्षीय कोर्स प्रारम्भ किया है।

गूढ़ से गूढ़ विषय को सरलतम रूप में प्रस्तुत करने की कला में आप माहिर हैं। इसी सरलता की छाप आपकी प्रस्तुत टीका 'सत्तासिद्धि भाग-1' में भी दिखाई पड़ती है। इसे पढ़कर पाठक 'पंचास्तिकाय संग्रह' को दुरुह कहना बंद कर देंगे। पंचास्तिकाय संग्रह को समझने के इच्छुक सभी पाठक इससे लाभान्वित हों, इसी भावना से प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है। शीघ्र प्रकाशन व्यवस्था के लिए डॉ. अखिल बंसलजी का बहुत आभार है।

विपिन जैन 'शास्त्री' मुम्बई

प्रकाशन मंत्री

हाल ही में अनेक छात्रों के अनुरोध के कारण और जिनवाणी की प्रभावना हेतु डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया अनेक व्यावहारिक विषयों को आधार बनाकर अत्यंत सरल और सटीक भाषा में जिनवाणी का मर्म समझाने हेतु अपने सोशल मीडिया अकाउंट का अवलंबन लिया है।

उनके द्वारा लिखे गए साहित्य का लाभ लेने हेतु नीचे दिए गए उनके सोशल मीडिया एकाउंट्स को फॉलो करें :

Facebook : https://www.facebook.com/d.shuddhatmprabha.taraiya
Instagram : https://www.instagram.com/shuddhatmprabha
Twitter : https://twitter.com/DrTaraiya
LinkedIn : https://www.linkedin.com/in/dr-shuddhatmprabha-taraiya-49b2b3212
YouTube : https://youtube.com/@vidwatratnadrshuddhatmprab4714

× × × × ×

साहित्य विशारद की अधिक जानकारी हेतु नीचे दिए गए वेबसाइट या फ़ोन नंबर पर contact करें :

www.practicaljainism.com **श्री अविनाश टड़ैया : 9221225264**

अपनी बात

प्रस्तुत पुस्तक आचार्य कुन्दकुन्द रचित पंचास्तिकाय संग्रह नामक ग्रंथ की आरंभिक 1 से 26 गाथाओं की टीका है।

मुझे प्रतीत होता है कि 'पंचास्तिकाय संग्रह' ही आचार्यदेव की प्रथम कृति है; क्योंकि इसमें जैनदर्शन के मूल सिद्धान्तों की सत्ता सिद्ध करते हुए अधिक से अधिक विषय अत्यन्त संक्षेप में वर्णित किए गए हैं। विशेष इतना कि पाँच अस्तिकाय, छहद्रव्य और नौ पदार्थ का सामान्य, विशेष – दोनों रूप में अति विस्तार से कथन है।

उक्त विषय की न केवल सामान्य सत्ता सिद्ध की है, अपितु प्रत्येक की विशेष सत्ता सिद्ध करते हुए उनका स्वरूप भी विस्तार से बताया है। न केवल पदार्थों की सत्ता सिद्ध की है, अपितु वे सत्ता का स्वरूप भी स्पष्ट करते हैं। इसप्रकार यह संपूर्ण ग्रंथ जिनागम की लोक व्यवस्था की सत्ता सिद्धि के लिए समर्पित प्रतीत होता है। अत: मुझे इस ग्रंथ की इस टीका का नाम 'सत्तासिद्धि' ही सर्वाधिक उचित लगा।

पिछले वर्ष जब मैं ध्यान के विषय पर लेखन कार्य कर रही थी, उस समय इस ग्रंथ को भी पुनः गहराई से देखा। तब मुझे इसमें कई नए बिंदु ख्याल में, समझ में आए और मेरे मन में विचार उठा कि आचार्य कुन्दकुन्द का यह ग्रंथ जन सामान्य के पठन-पाठन का विषय होना चाहिये। इस ग्रंथ की कुछ गाथाओं की दुरूहता व इसके विषय को बहुत कुछ अपने में समाए हुए 'द्रव्य संग्रह' की सरलता ही इसके अप्रचलन का कारण रहा है।

मेरा मानना है कि आचार्य कुन्दकुंद के अन्य ग्रंथों के पठन-पाठन से पहले यह ग्रंथ अवश्य पढ़ना चाहिए, क्योंकि उनके ग्रंथों में एक क्रमबद्ध विकास है। उस क्रम से पढ़ने पर प्रवचनसार, समयसारादि का भाव कुछ अलग ही समझ आता है। आचार्यदेव ने 'समय' के अस्तित्व को, स्वरूप को पंचास्तिकाय में और समय के सार को समयसार में समझाया है।

पंचास्तिकाय संग्रह भी जन-जन के पठन-पाठन का विषय बने- इसी भावना से विगत वर्ष से मैं इस पर कक्षा ले रही हूँ। साथ ही साथ सरल से सरल शब्दों में उसकी टीका भी लिख रही हूँ। 'परमागमऑनर्स' मास्टर्स के छात्रों के निमित्त व स्वयं के गहराई से चिंतन-मनन की भावना से लिखे गए ये नोट्स सहज ही 'पुस्तक' बन गए हैं। इन नोट्स की टाईपिंग में श्रीमती मीना शिशोदिया, शारजाह और श्रीमती लावण्य धारीवाल दुबई का विशेष सहयोग रहा है और पुस्तकाकार रूप प्रदान करने (सेंटिंग) में श्रीमान कमल कुमार जी शर्मा का सहयोग उल्लेखनीय है। एतदर्थ सभी को आभार।

तत्त्व को समझने की दृष्टि व उसे शोध, खोज, गवेषणापूर्वक सरल शब्दों में प्रस्तुत करने की कला तो दादा (डॉ. हुकमचंद भारिल्लजी) ने ही सिखाई है; अतः उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि तो उनके बताए हुए मार्ग पर चलना ही समझती हूँ। इसलिए उनकी दूसरी पुण्यतिथि पर यह 60वीं पुस्तक मैं उन्हें ही समर्पित करती हूँ।

– डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

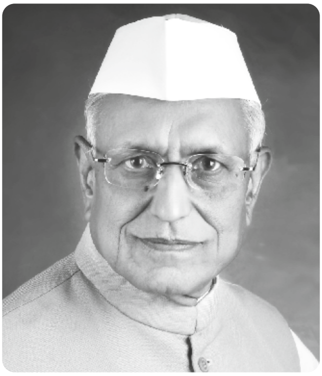

परमश्रद्धेय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल की द्वितीय पुण्य तिथि पर स्वाध्याय हेतु यह ज्ञान पुष्प, आराध्य कुमार अविनाशकुमार टड़ैया, मुम्बई की ओर से सप्रेम समर्पित है।

लेखिका की अन्य कृतियाँ

01. जैन नर्सरी (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
02. जैन के.जी. भाग-1 (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
03. जैन के.जी. भाग-2 (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
04. जैन के.जी. भाग-3 (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
50-06. जैन कलर बुक भाग 1-2 (ड्राइंग बुक)
07-10. जैन जी.के. भाग-1 से 4 तक (हिन्दी, अंग्रेजी)
11-16. जैन जी.के. भाग-5 से 10 तक (हिन्दी)
17-18. चलो पाठशाला, चलो सिनेमा भाग 1-2
19. सीखें हम गाते-गाते
20. शब्दों की रेल
21-23. आगम प्रवेश भाग-1,2,3
24. मुझमें भी एक दशानन रहता है
25. संस्कार का चमत्कार (दादी की कहानी)
26. बढ़ते कदम
27. राम कहानी
28. विचार के पत्र : विकार के नाम
29. तलाश : सुख की
30. मुक्ति की युक्ति
31. एक संभावना यह भी
32. सत्ता का सुख
33. बालबोध प्रशिक्षण गाईड
34. प्रवेशिका प्रशिक्षण गाईड
35. अर्चना गाईड
36. नयचक्र गाईड (अध्यात्म के नय)
37. आगम के नय
38. अनुपम खोज (सप्तभंगी टीका)
39. उपादान निमित्त दोहा (टीका)
40. परीक्षामुख प्रवेशिका (टीका)
41. प्रमाणज्ञान
42. प्रमाणज्ञान : सम्यग्ज्ञान
43. आत्मानुभूति कैसे?
44. जैनदर्शनसार
45. आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (लघु शोध)
46. आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार : एक समालोचनात्मक अध्ययन (शोध प्रबंध)
47. मिनी समयसार
48-49. समयसार प्रश्नोत्तरमाला भाग-1, 2
50-52. परमागम प्रवेशिका भाग-1, 2, 3/4
53-55. मीडियम समयसार : भाग-1, 2, 3
56. आनंद एक : रूप अनेक
57. बढ़ते कदम : परमागम की ओर
58. द्रव्यसंग्रह प्रवेशिका
59. ध्यान एक : रूप अनेक
60. सत्तासिद्धि

जैन गेम्स

1. नो टाइम पास
2. हमारी लाईफ
3. लगे रहो जीवराज
4. चौबीसी (Poster)
5. Maze to Moksh

E-books

01. मिनी समयसार भाग -1
02. मिनी समयसार भाग -2
03. परमागम प्रवेशिका भाग - 1
04. परमागम प्रवेशिका भाग - 2
05. परमागम प्रवेशिका भाग - 3
06. परमागम प्रवेशिका भाग - 4
07. मीडियम समयसार भाग - 1
08. प्रमाणज्ञान : सम्यग्ज्ञान
09. समयसार प्रश्नोत्तरमाला : भाग-1
10. आनंद एक : रूप अनेक
11. बढ़ते कदम : परमागम की ओर

विषय–सूची

क्र.सं.	विषय	पृ.सं.
1.	आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पाँच परमागम	1
2.	पंचास्तिकाय संग्रह की उपयोगिता व विशेषता	5
3.	पंचास्तिकाय संग्रह ग्रंथ का मूल नाम	9
4.	पंचास्तिकाय संग्रह की विषयवस्तु	12
5.	सत्तासिद्धि की विषयवस्तु	15
6.	कलश–1	19
7.	कलश–2	23
8.	कलश–3	25
9.	कलश–4	26
10.	कलश–5	27
11.	कलश–6	28
12.	गाथा–1	29
13.	गाथा–2	32
14.	गाथा–3	34
15.	गाथा–4	35
16.	गाथा–5	39
17.	गाथा–6	43
18.	गाथा–7	47
19.	गाथा–8	49
20.	गाथा–9	57
21.	गाथा–10	59
22.	गाथा–11	62
23.	गाथा–12	64
24.	गाथा–13	66
25.	गाथा–14	68
26.	गाथा–15	70
27.	गाथा–16	72
28.	गाथा–17	74
29.	गाथा–18	75
30.	गाथा–19	77
31.	गाथा–20	78
32.	गाथा–21	80
33.	गाथा–22	83
34.	गाथा–23	85
35.	गाथा–24	87
36.	गाथा–25	89
37.	गाथा–26	91

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पाँच परमागम

आचार्य कुन्दकुन्द जिन आचार्य परंपरा में सर्वोपरि हैं। दिगम्बर जैन साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य परंपरा का कहलाने में गौरव महसूस करते हैं।

जैन मतानुयायी कोई भी शुभ कार्य आरम्भ करने के पूर्व मंगलाचरण में आपको बड़ी श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं।

सभी लेखक वर्तमानकालीन देश, काल, समाज की परिस्थितियों से प्रभावित होते ही हैं। तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियाँ[1] ही आपके लेखन का मूल कारण रही हैं।

आपके पूर्व अध्यात्म शास्त्र लिखित रूप में उपलब्ध नहीं थे और समाज में शिथिलाचार पनपने लगा था। साधुजन भी शिथिलाचार को 'आपद् धर्म' कहकर उसका पोषण करने लगे थे। इस समय बरती गई किसी भी प्रकार की शिथिलता जैन परंपरा के मूलमार्ग के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी। अतः आचार्य कुन्दकुन्द ने शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आंदोलन चलाया, कठोर कदम उठाया और आपने शिथिलाचार के विरुद्ध आठ पाहुड़ लिखे, जो आज 'अष्ट पाहुड़' नाम से जाने जाते हैं।

इनमें उन्होंने शिथिलाचार के विरुद्ध कठोर भाषा में उस परमसत्य का उद्‌घाटन किया, जिसके बिना साधकों के भटक जाने के अवसर अधिक थे।

अध्यात्म और वस्तु स्वरूप को अच्छी तरह स्पष्ट करने के लिए आपने 84 पाहुड़ लिखे थे, जिनमें से आज मात्र बारह पाहुड़ ही उपलब्ध हैं। जिनमें अष्ट पाहुड़ के अतिरिक्त शेष चार पाहुड़ आज समयसार, प्रवचनसार, नियमसार और पंचास्तिकाय संग्रह के नाम से प्रचलित हैं।

टिप्पणी – 1. तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति जानने के जिज्ञासु पाठक लेखिका की अन्य कृति 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार' नामक पुस्तक का अध्ययन करें।

उक्त चारों ही ग्रंथों में अध्यात्म और वस्तुस्वरूप - दोनों को ही बहुत अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है।

उनके सभी ग्रंथ आगामी ग्रंथकारों के आज तक आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं। परवर्ती सभी ग्रंथ व ग्रंथकार आपके अनुजीवी हैं। वे सभी अपने ग्रंथों में आपको श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुए अपने ग्रंथों की प्रामाणिकता के लिए आपके पद्यों को उद्धृत करते हैं।

आपके उपलब्ध सभी ग्रंथ आज 'पंचपरमागम' कहलाते हैं। ये जिन सिद्धांतों के सारभूत ग्रंथ हैं। हमारी सभी शंकाओं के समाधान इनमें हो जाएँगे। जिसप्रकार एक हाथी के पैर में सबके पैर समा जाते हैं; उसीप्रकार कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रंथों के अध्ययन में सभी ग्रंथों का सार समा जाता है।

उपलब्ध पाहुडों की विषयवस्तु पर दृष्टिपात करते हैं तो प्रतीत होता है कि आचार्यदेव ने महत्त्वपूर्ण विषयों पर भिन्न-भिन्न दृष्टि से अलग-अलग पाहुड लिखे थे। जैसे सम्यग्दर्शन के विषय को ही लें तो उसकी महिमा बताने के लिए दंसणपाहुड लिखा और विषयवस्तु, स्वरूप व तत्संबंधित विषयों की जानकारी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से पंचास्तिकाय संग्रह व प्रवचनसार में दी। समयसार तो संपूर्ण रूप से उसी के लिए समर्पित है ही।

इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने 'सत्ता', 'नय', 'सप्तभंगी', 'अनेकान्त-स्याद्वाद', 'निमित्त-उपादान', 'क्रमनियमित पर्याय' आदि विषयों पर भी पृथक्-पृथक् पाहुड लिखें होंगे; क्योंकि इन विषयों का कहीं नाममात्र कथन, तो कहीं एक-एक गाथा में अत्यंत संक्षिप्त कथन उनके ग्रंथों में मिलता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथों में जिस-जिस विषय का संक्षेप में वर्णन किया है, परवर्ती ग्रंथों में उनका ही विस्तार है। यदि कुन्दकुन्द के ग्रंथों को बीज कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रंथ रूपी बीजों पर ही अभी तक के आचार्यों, विद्वानों के ग्रंथ रूपी वृक्ष खड़े हैं, पनपे हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द की गाथाओं के महत्व को देखते हुए उनके टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र ने गाथाओं के संदर्भ में कहा है कि 'अब सूत्र का अवतार होता है।'[1]

जिसप्रकार हिंदुओं में प्रसिद्ध है कि भगवान भक्तों को दुष्टों के दुःखों से बचाने के लिए अवतार लेते हैं; उसीप्रकार मानो दुष्ट कर्मों के दुःखों से बचाने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने ही सूत्रों के रूप में अवतार लिया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के उपलब्ध ग्रंथों के वर्ण्यविषय में भी एक क्रमबद्ध विकास है। इन ग्रंथों में हमारा व हम से संबंधित पदार्थों का वर्णन है। इनमें भूत-वर्तमान-भविष्य की सभी विकारी-अविकारी दशाओं का चित्रण है।

सर्वप्रथम वे पंचास्तिकाय संग्रह में हम सबकी (जीव की) व हमारे सहयोगियों (आकाश, काल) की चर्चा करते हैं। संक्षेप में कहें तो वे हमसे संबंधित पदार्थों की (पुद्गल आदि की), हमारे उठने-बैठने, चलने, रहने व परिवर्तन में सहयोगियों का हमारे जीवन में स्थान बताते हैं। उन पदार्थों में हम अपनत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व कर राग-द्वेष करने लगते हैं। उन्हें अच्छा-बुरा समझने लगते हैं और दुःखी होते रहते हैं। इसप्रकार हमारी इन सभी अवस्थाओं को छः द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय के रूप में समझाते हैं। अंत में दुःखों से मुक्ति व सुख प्राप्ति का उपाय भी बता देते हैं। इसप्रकार अनादि से दुःखी अवस्था के कारणों से लेकर अनंत काल तक सुखी रहने के कारणों को इस ग्रंथ में वर्णित किया गया है। संक्षिप्त रुचि शिष्य इतने से समझ जाते हैं, व आत्मकल्याण के मार्ग पर बढ़ जाते हैं।

कुछ जनों को इतने से समझ नहीं आता, वे कुछ अधिक विस्तार चाहते हैं, उन्हें आचार्य जयसेन ने मध्यम रुचि शिष्य कहा है। प्रवचनसार ऐसे ही शिष्यों के लिए लिखा गया है। इसमें विषयवस्तु को ज्ञानतत्व व

टिप्पणी – 1. 'अथ सूत्रावतारः।'

ज्ञेयतत्त्व - इन दो भागों में विभाजित किया है। जीव ज्ञानतत्त्व है व ज्ञेयतत्त्व भी है एवं शेष दुनिया को उन्होंने ज्ञेयतत्त्व में समेट लिया है। इसप्रकार इस ग्रंथ में हम (आत्मा) और हमारे सहयोगियों (जानने में आनेवाले सभी पदार्थों) की चर्चा कर अंत में दुःखों से मुक्ति का उपाय विस्तार से बताया है। मध्यम रुचि शिष्य को इतने से समझ आ जाता है और वे मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ जाते हैं।

कुछ व्यक्ति इतने से भी नहीं समझ पाते। उन्हें आत्मा का शुद्ध स्वरूप समझ नहीं आता; अतः आचार्यदेव ने विस्तार रुचि शिष्यों को समझाने के निमित्त से समयसार में शुद्ध-आत्मा का स्वरूप विस्तार से समझाया है।

जो जीव आत्मा का स्वरूप समझकर उसमें तन्मय हो जाते हैं, लीन हो जाते हैं, वे ज्ञानी हो जाते हैं, समयग्दृष्टि कहलाते हैं।

जिनकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है, उनका दुनिया को देखने का नज़रिया बदल जाता है। जब वे अपने को अपनेपन से अनुभव करने लगते हैं, तो पर में परायापन सहज हो जाता है। जब पर में परायापन होता है तो उन्हें छोड़ने का, त्याग करने का भाव उत्पन्न होता है। निर्ग्रंथ मुनि बनने की भावना होती है। निर्ग्रंथ मुनिराज का यथार्थ स्वरूप क्या है? उस पद के योग्य उचित-अनुचित आचरण क्या है? आचरण में कमी रहने पर, दोष उत्पन्न होने पर प्रायश्चित कैसे करें? आदि सभी विषय छोटे-छोटे आठ पाहुड़ों (अष्ट पाहुड़) में वर्णित हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द रचित पाँच परमागम में रत्नत्रयरूप मुक्तिमार्ग संक्षेप में व विस्तार से यथासंभव दृष्टिगोचर होता है। इनमें हमें अपने व दुनिया के शुद्ध-अशुद्ध सभी रूपों की जानकारी हो जाती है। जो जीव अपने शुद्ध स्वरूप को जानकर, पहचानकर उसी में जम जाता है, रम जाता है; वह मुक्ति के मार्ग पर चलकर पूर्ण सुखी हो जाता है।

सभी पूर्ण सुख प्राप्त करें - इसी भावना से पंचपरमागम लिखे गए हैं। अतः सभी को इनका अध्ययन-मनन करना चाहिए।

●

पंचास्तिकाय संग्रह की उपयोगिता व विशेषता

आचार्य कुन्दकुन्द जिन अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। अतः उनके द्वारा रचित पाहुड़ों में वह सारी विषयवस्तु समाहित हुई है, जिनकी जानकारी न केवल जिनागम में प्रवेश के लिए आवश्यक है; अपितु मोक्षमार्ग में प्रवेश के लिए, वृद्धि के लिए व पूर्णता के लिए भी जरूरी है।

उनके द्वारा रचित 'पंचास्तिकाय संग्रह' ऐसा ग्रंथ है, जिसकी सम्यक् जानकारी के बिना जिनागम में प्रवेश संभव नहीं। यही कारण है कि पंचास्तिकाय संग्रह को आधार बनाकर कुन्दकुन्दाचार्य के परवर्ती सभी आचार्यों, विद्वानों ने विश्वव्यवस्था, लोकव्यवस्था, द्रव्यव्यवस्था, पदार्थव्यवस्था, तत्त्वव्यवस्था और पंचास्तिकाय की व्यवस्था प्रतिपादित की है। परवर्ती आचार्यों व विद्वानों द्वारा लिखित उन ग्रंथों से यद्यपि सामान्यजन जिनागम में आसानी से प्रवेश कर लेते हैं; किन्तु पंचास्तिकाय संग्रह के कुछ विषय ऐसे हैं, जो अभी आमजन की दृष्टि से ओझल हैं।

इस ग्रंथ की अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ हैं, जिस कारण यह उन पुस्तकों के रहते आज तक विलुप्त नहीं हुआ, विद्वत्जन के पठन-पाठन का विषय बना रहा है। इस छोटे से ग्रंथ में सभी कुछ समाहित है।

जैनदर्शन की विश्वव्यवस्था के साथ-साथ, कथनव्यवस्था, वस्तुव्यवस्था, मुक्ति का सम्पूर्ण मार्ग - सब कुछ इसमें है। अधिक क्या कहें? इसमें अनादिकालीन अज्ञानी से लेकर सिद्ध तक के सभी जीवों के स्वरूप का वर्णन है। अज्ञानी से ज्ञानी बनने का मार्ग है, दुःखी से सुखी होने का, आत्मा से परमात्मा बनने का उपाय भी बताया गया है। उदाहरण के तौर पर हम देखते हैं कि इस ग्रंथ की आरम्भ की 14 गाथाओं में आचार्य कुन्दकुन्द ने हमारी-तुम्हारी और हमें-तुम्हें कार्य करने में सहयोगी द्रव्यों की सत्ता सिद्ध की है।

अनेकों अज्ञानी आत्मा की, जीवद्रव्य की सत्ता से ही इंकार करते हैं; अतः आचार्यदेव तर्कपूर्वक सर्वप्रथम सबकी सत्ता ही सिद्ध कर रहे हैं।

कोई भी व्यक्ति अपनी सत्ता से इंकार नहीं कर सकता है और यदि कोई करे भी तो वह स्ववचन बाधित ही सिद्ध होगा।

आचार्यदेव कहते हैं कि जो हम हैं, तुम हो, वह जीवद्रव्य है, आत्मा है। हमारे अंदर गुण हैं, पर्यायें हैं जो हमसे अनन्य हैं। अतः हमसे कभी जुदा नहीं हो सकते। गुण हमारे में स्थायी तौर पर रहते हैं और पुरानी पर्यायें नष्ट होती रहती हैं, नई–नई उत्पन्न होती रहती हैं। जैसे हम सब जानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य की बाल, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाएँ होती हैं; जो कि बदलती रहती हैं, क्रमशः एक के बाद एक आती हैं; पर वह मनुष्य कायम रहता है। इसीप्रकार जीव देव, मनुष्य, नरक, तिर्यंच आदि गतियाँ बदलता रहता है, पर उसमें जीवपना कायम रहता है। ये द्रव्य जाति अपेक्षा छः हैं (जीव, पुद्‌गल , धर्म, अधर्म, आकाश व काल) और संख्या से अनंत हैं। प्रत्येक द्रव्य के अपने–अपने गुण हैं, अपनी–अपनी पर्यायें हैं, जो उन–उन द्रव्यों से अनन्य हैं।

हम अपनी सत्ता के लिए, अस्तित्व के लिए पराधीन नहीं; हम अपने में परिवर्तन के लिए पराधीन नहीं। न कोई हममें कुछ कम या अधिक कर सकता है और न हम किसी में कुछ गुण या पर्यायें कम–अधिक कर सकते हैं।

इसप्रकार इन गाथाओं में हमारी पूर्ण स्वतंत्रता की उद्‌घोषणा की गई है, पूर्ण अमरता को दृढ़ता से स्थापित किया गया है।

बदलकर भी न बदलना हमारे स्वरूप में पड़ा है। हम पर्याय से पूर्णरूप से बदलकर भी गुणों से रंचमात्र भी नहीं बदलते। हम ध्रुव रहकर बदलते हैं और बदलकर ध्रुव रहते हैं। ध्रुवता हमारे में गुणों से आती है और पर्यायें उत्पन्न– विनष्ट होती रहतीं हैं। इसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य में अपने–अपने गुणों–पर्यायों के कारण उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना कायम

रहता है; जो कि प्रत्येक द्रव्य से अनन्य है, अभिन्न है, अभेद है। अतः कोई हमारे में फेर बदल नहीं कर सकता और हम भी दूसरे में कुछ नहीं कर सकते। अपने अच्छे बुरे के कर्ता हम स्वयं हैं। इससे हममें दीनता की भावना समाप्त होती है। हम दीन–हीन नहीं, हम गुणहीन नहीं। हम वर्तमान में अवश्य दुःखी हैं, पर यदि पुरुषार्थ करें तो सुखी हो सकते हैं।

आप अपने ग्रंथों में विषय को इस तरह प्रस्तुत करते हैं कि आरम्भ से अंत तक जिज्ञासा बनी रहती है। आप किसी भी विषय का पहले नाम मात्र कथन करते हैं, फिर सामान्य कथन, फिर विशेष कथन, अति विशेष कथन। जैसे– इस ग्रंथ की मंगलाचरण की गाथा में इष्टदेव को नमस्कार पूर्वक उनका सामान्य कथन, और विशेषताएँ बताकर विशेष कथन किया गया है; साथ ही साथ हित–मित–प्रिय वचन कहकर जिनवाणी का सामान्य कथन किया गया है।

दूसरी गाथा में जिनवाणी का विशेष कथन और 'समय' का सामान्य कथन किया गया है।

तीसरी गाथा में 'समय' का सामान्य कथन और लोक का नाम मात्र कथन किया गया है।

चौथी गाथा में 'समय' का विशेष कथन और अस्तित्व व कायत्व का नाम मात्र कथन किया गया है।

पाँचवी गाथा में अस्तित्व, कायत्व का विशेष कथन, अस्तिकाय और लोक का सामान्य कथन किया गया है।

छठवीं गाथा में अस्तिकाय का विशेष कथन करते हुए उनमें विद्यमान गुण–पर्यायों का सामान्य कथन किया गया है।

सातवीं गाथा में द्रव्यों की विशेषता बताई गई है और **आठवीं गाथा** में सभी द्रव्यों में समानरूप से विद्यमान विशेषता के रूप में सत्ता का स्वरूप बताया गया है।

नौवीं गाथा में द्रव्य का सामान्य स्वरूप व सत्ता का विशेष कथन करते हुए उसकी द्रव्य से अनन्यता सिद्ध की गई है।

दसवीं गाथा में द्रव्य का विशेष कथन करते हुए उसके तीन स्वरूपों का वर्णन किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द की इस विशेषता के दर्शन उनकी सभी कृतियों में होते हैं। इस कृति में भी सर्वत्र यह शैली नजर आती है। इसकी विशेष चर्चा मैं 'मिनी समयसार' में कर चुकी हूँ।

मैं पंचास्तिकाय संग्रह की उपयोगिता व विशेषता को संक्षेप में निम्न प्रकार कहना चाहूँगी–

हम से हमारी दुनिया का परिचय कराने वाला ग्रंथ है – **पंचास्तिकाय संग्रह।**
हमें हमारे परिकर से संबंध स्थापित कराने वाला ग्रंथ है – **पंचास्तिकाय संग्रह।**
हमें हमारी मर्यादाओं की सीमा दिखाने वाला ग्रंथ है – **पंचास्तिकाय संग्रह।**
हमें हमारी नित्यता का, अमरता का एहसास कराने वाला ग्रंथ हैं –
पंचास्तिकाय संग्रह।
हमें हमारी अनित्यता का रूप दिखाने वाला ग्रंथ है – **पंचास्तिकाय संग्रह।**
हमें हमारी सीमाओं का अतिक्रमण न करने की चेतावनी देने वाला ग्रंथ है –
पंचास्तिकाय संग्रह।
हमारे भय को दूर करने वाला है – **पंचास्तिकाय संग्रह।**
हमारी स्वतंत्रता का एहसास कराने वाला है – **पंचास्तिकाय संग्रह।**
हमारी दीनता को दूर करने वाला है – **पंचास्तिकाय संग्रह।**
हमें कर्तृत्व के भ्रम से बचाने वाला ग्रंथ है – **पंचास्तिकाय संग्रह।**
हमें अपूर्णता की दीनता से मुक्ति दिलाने वाला ग्रंथ है – **पंचास्तिकाय संग्रह।**
हमें पूर्णता की स्वीकृति कराने वाला ग्रंथ है – **पंचास्तिकाय संग्रह।**
हमें दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला ग्रंथ है – **पंचास्तिकाय संग्रह।**
हमें सुख की ओर क़दम बढ़वाने वाला ग्रंथ है – **पंचास्तिकाय संग्रह।**
हमें परिपूर्ण सुख दिलाने वाला ग्रंथ है – **पंचास्तिकाय संग्रह।**

पंचास्तिकाय संग्रह ग्रंथ का मूल नाम

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आद्य रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यात्म की सम्पूर्ण विषयवस्तु को 84 भागों में विभाजित किया और उसे 84 पाहुड़ों में लिपिबद्ध किया।

इन ग्रंथों की गाथाओं के लेखन में उन्होंने इस बात का विशेष ध्यान रखा कि एक बार अत्यंत संक्षेप में सम्पूर्ण जिनागम का सार लिपिबद्ध हो जाए। वर्तमान में उपलब्ध उनकी गाथाओं में विषयवस्तु की प्रस्तुति की दृष्टि से एक विशेष क्रम दिखाई पड़ता है। जिस विषय को वे समझाना चाहते हैं, उस विषय का नाममात्र कथन वे मंगलाचरण में अथवा ग्रंथ के नाम के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जैसे– दर्शनपाहुड़ के मंगलाचरण में वे लिखते हैं –

(1) 'दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण'।।गाथा 1।।

अर्थात् मैं दर्शन के मार्ग को संक्षेप में कहूँगा।

इसमें उन्होंने स्वयं लिखा है, मैं समयग्दर्शन के स्वरूप को संक्षेप में कह रहा हूँ।

(2) चारित्र पाहुड़ में वे लिखते हैं –

'मोक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुड वोच्छे'।।2।।

अर्थात् मोक्ष की आराधना हेतु मैं चारित्र का सार बता रहा हूँ।

(3) भाव पाहुड़ में वे कहते हैं –

'वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा'।।1।।

अर्थात् शेष बचे हुए सभी संयमी (आचार्य, उपाध्याय और साधुओं) को मस्तक से वंदना कर भाव पाहुड़ कहूँगा।

(4) 'वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलि भणिदं'।।1।। नियमसार

अर्थात् मैं केवली व श्रुतकेवली द्वारा कहे गए नियमसार को कहूँगा।

(5) 'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलिभणिदं' ।।1।। समयसार

अर्थात् श्रुतकेवली द्वारा कहे गए समयसार को कहूँगा।

(6) 'एसो पणमिय सिरसा समयमिणं सुणहवोच्छामि' ।।2।। पंचास्तिकाय संग्रह

अर्थात् (श्रमण के मुख से निकली) वाणी को सिर झुकाकर नमस्कार करते हुए 'समय' को कह रहा हूँ, तुम ध्यान से सुनो।'

उक्त सभी ग्रंथों के अध्ययन के उपरांत ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्यदेव को स्वयं इस ग्रंथ का नाम 'समय' इष्ट था। ऐसा मानने के पीछे निम्न कारण हैं –

(i) जिसप्रकार नियमसार में 'नियम' कहने की प्रतिज्ञा के उपरांत वे नियम के संबंध में ही सामान्य–विशेष चर्चा करते हैं, उसका स्वरूप स्पष्ट करते हैं; उसीप्रकार इस ग्रंथ में भी वे 'समय' कहने की प्रतिज्ञा के उपरांत समय की ही सामान्य–विशेष चर्चा करते हैं, स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

(ii) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश – इन पाँच के समूह को इस ग्रंथ में 'समय' कहा गया है और इन पाँचों में सारभूत जीव के शुद्ध स्वरूप का वर्णन 'समयसार' में किया गया है।

(iii) प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के दिए इसी नाम के आधार पर टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने इस ग्रन्थ की अपनी टीका का नाम 'समयव्याख्या' दिया है।

वर्तमान में यह ग्रंथ 'पंचास्तिकायसंग्रह' नाम से प्रसिद्ध है।

यह नामकरण कबसे प्रचलन में आया? यह तो स्वतंत्र शोध का विषय है; किंतु इसका कारण हम अनुमान कर सकते हैं।

पाँच समय के अस्तित्व, सामान्यस्वरूप व विशेषस्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् अंत में उपसंहार के रूप में 103वीं गाथा में वे कहते हैं कि–

'एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं' ।।103।।

अर्थात् जो प्रवचन के सारभूत पाँच अस्तिकायों के इस संग्रह को जानकार राग-द्वेष को छोड़ता है, वह दुःखों से मुक्त होता है।

प्रतीत होता है उक्त गाथा में कथित पंचत्थियसंगहं के आधार पर हिंदी में यह 'पंचास्तिकायसंग्रह' नाम से प्रचलित हो गया।

नव पदार्थों के वर्णन के पश्चात् अंत में उपसंहारात्मक गाथा में भी इसीप्रकार का भाव आचार्यदेव द्वारा व्यक्त किया गया है-

'भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगह सुत्तं' ।।173।।

अर्थात् प्रवचन के सारभूत पाँच अस्तिकायों के संग्रह के सूत्रों को कहा है।

प्रतीत होता है कि इस ग्रंथ के उपलब्ध दोनों खण्ड दो भिन्न-भिन्न पाहुड़ रहे होंगे। अंतिम गाथा की इस समानता के कारण इन्हें एक ग्रंथ में शामिल कर लिया गया है। इस संदर्भ में डॉ. हुकुमचंदजी भारिल्ल का निम्न कथन दृष्टव्य है-

उक्त दोनों खंड इतने विभक्त हैं कि दो स्वतंत्र ग्रंथ से प्रतीत होते हैं। दोनों के एक जैसे स्वतंत्र मंगलाचरण किए गए हैं। प्रथम खंड समाप्त करते हुए उपसंहार भी इसप्रकार कर दिया गया है कि जैसे ग्रंथ समाप्त ही हो गया हो। प्रथम खंड की समाप्ति पर ग्रंथ के अध्ययन का फल भी निर्दिष्ट कर दिया गया है। दूसरा खण्ड इसप्रकार आरम्भ किया गया है, मानो ग्रंथ का ही आरम्भ हो रहा है।[1]

वर्तमान में 'पंचास्तिकाय संग्रह' नाम से प्रचलित इस ग्रन्थ के विभिन्न ग्रंथों में भिन्न-भिन्न निम्न नाम भी उपलब्ध होते हैं - पंचत्थियपाहुड[2], पंचास्तिकायसार[3]।

●

टिप्पणी - 1. पंचास्तिकाय परिशीलन पृष्ठभूमि, पृ.19।
2. धवला पुस्तक-4
3. प्रोफेसर ए. चक्रवर्ती नयनार।

पंचास्तिकाय संग्रह की विषयवस्तु

पंचास्तिकाय संग्रह –

'पंचास्तिकाय संग्रह' के कर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द जिन आचार्य परंपरा में सर्वोपरि हैं और उनके द्वारा लिखित 'पंचास्तिकाय संग्रह' जिन अध्यात्म व जिन सिद्धांत का प्रवेश द्वार है। इसमें जिनागम में प्रतिपादित द्रव्यव्यवस्था, पदार्थव्यवस्था, लोकव्यवस्था, कथनव्यवस्था आदि की सम्यक् जानकारी दी गई है।

सर्वज्ञ देव की वाणी के आधार पर लिखा गया यह ग्रंथ चार गति के दुःखों को दूर करने वाला, मुक्ति का कारणभूत ग्रंथ है।

टीकाकार आचार्य जयसेन के अनुसार इस ग्रंथ में 181 गाथायें हैं, जबकि आचार्य अमृतचंद्र की टीका में 173 गाथायें ही उपलब्ध हैं।

विषयवस्तु –

यह ग्रंथ पदार्थों के अस्तित्व की सिद्धि का ग्रंथ है। इसमें हमारी-तुम्हारी, सभी द्रव्यों की, पदार्थों की, लोक की सत्ता सिद्ध की गई है। वस्तुओं की सत्ता के साथ-साथ इसमें सत्ता के स्वरूप पर भी चर्चा की गई है। सत्ता से क्या तात्पर्य है? किसकी सत्ता है, किसकी नहीं? सत्ता के आधार पर किसमें समानता है, किसमें नहीं? समानता व भिन्नता का आधार क्या? सत्ता के लिए आवश्यक क्या? आदि विभिन्न बिंदुओं पर सूक्ष्मता से विचार किया गया है।

इस ग्रंथ में पदार्थों की सत्ता सिद्धि का एक क्रमबद्ध सहज विकास है। जैसे इसमें द्रव्य की सत्ता सिद्ध करने के लिए उनमें गुण-पर्याय की सत्ता सिद्ध की गई है। तत्पश्चात् गुण के स्थिर और पर्याय के अस्थिर स्वभाव द्वारा उनमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की सिद्धि भी स्वतः हो ही जाती है; क्योंकि जब द्रव्य में गुण-पर्याय हैं और वे द्रव्य से अनन्य हैं, तो गुणपर्यायवान द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी हैं ही।

इसीप्रकार छहों द्रव्यों की विशेष सिद्धि में हम देखते हैं कि जीव तो हम हैं ही। द्रव्य सामान्य की सत्ता सिद्धि में उसकी सिद्धि हो ही गई है। पुद्‌गल हमें सर्वत्र नजर आता है, उसकी सत्ता से इंकार नहीं किया जा सकता।

जीव, पुद्‌गल के अस्तित्व द्वारा ही आकाश काल की सत्ता सिद्ध करते हुए वे कहते हैं कि हम जहाँ रहते हैं, हमें रहने को स्थान देने में जो निमित्त है, वही आकाश है। हम और अन्य द्रव्य जहाँ रहते हैं, उसे लोक (लोकाकाश) कहते हैं, यह अशुद्ध आकाश है। हमारे रहने से ही आकाश में अशुद्धता हो जाती है और जहाँ हर किसी का प्रवेश निषेध है, भगवान की भी एंट्री नहीं, वह मात्र आकाश है, शुद्ध आकाश है; अलोकाकाश है।

पाँचों अस्तिकायों में, बहुप्रदेशी द्रव्यों में परिवर्तन का जो कारण है, वह कालद्रव्य है, अतः इसकी सत्ता भी स्वतः सिद्ध है। कालद्रव्य अन्य पाँचों द्रव्यों के समान बहुप्रदेशी नहीं है, अतः वह कायवान नहीं है, पर उसकी सत्ता है, अस्तित्व है, अस्ति है। यह भी अपने अस्तित्व से अनन्य है, अभेद है।

संक्षेप में कहें तो छहों द्रव्य सत्, उनके गुण सत्, पर्याय सत्। सभी द्रव्यों के अपने-अपने गुण, अपनी-अपनी पर्यायें, अपने-अपने से होती हैं, किसी को किसी की अपेक्षा नहीं।

इसप्रकार इस ग्रंथ में प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता की पूर्ण उद्‌घोषणा की है। प्रत्येक वस्तु को अपने में परिवर्तन के लिए किसी अन्य की जरूरत नहीं। ऐसी शक्ति उसमें स्वयं पड़ी हुई है। कोई अन्य किसी अन्य वस्तु में परिवर्तन कर सकता नहीं और उसे अपने में परिवर्तन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं, पराधीनता नहीं। विशेष क्या कहें? जानने वाला जीव भी अपने में परिवर्तन के लिए पर के आधीन नहीं और नहीं

जाननेवाला अजीव भी अपने परिवर्तन के लिए पराधीन नहीं। परिवर्तनशीलता उनकी स्वयं की शक्ति है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से अत्यंत भिन्न है और अपनी-अपनी पर्यायों से अभिन्न है। जीव स्वतंत्र है और पुद्गल भी स्वतंत्र है; अतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है।

दुनिया में हम देखते हैं कि वस्तुयें बदल कर भी नहीं बदल रहीं हैं और नहीं बदलकर भी बदल जाती हैं। नित्य होकर भी अनित्य हैं, अनित्य होकर भी नित्य हैं - यह सब कैसे संभव है? इनकी अपेक्षा क्या है? नित्य रहना वस्तुओं का स्वभाव है या अनित्य रहना? दोनों परस्पर विरोधी बातें एक ही वस्तु में कैसे संभव हैं? - आदि सभी शंकाओं के समाधान हैं इस ग्रन्थ में।

वस्तुतः यह छोटा सा ग्रंथ अपने आप में बहुत कुछ समेटे हुए है। अत्यंत संक्षेप में इसमें वह सारी विषयवस्तु समाहित की गई है, जिसकी जानकारी मुक्तिमार्ग पर चलने के लिए व सम्पूर्ण दुःखों से सदा मुक्त होने के लिए आवश्यक है।

यही कारण है कि आचार्य जयसेन ने कहा है कि यह ग्रंथ 'संक्षिप्तरुचि' शिष्यों को समझाने के लिए लिखा गया है।

संक्षिप्तरुचि अर्थात् अत्यंत बुद्धिमान होने के कारण जो संक्षेप (इशारों) में कहीं गई बातों को भी आसानी से, शीघ्रता से समझ लेते हैं।

संक्षेप में कहें तो पंचास्तिकाय संग्रह वस्तुदर्शन का प्राण है। इसमें लोक व्यवस्था, पदार्थ व्यवस्था, तत्त्व व्यवस्था, द्रव्य व्यवस्था और पंचास्तिकाय की व्यवस्था और मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया गया है।

●

सत्तासिद्धि की विषयवस्तु

'पंचास्तिकाय संग्रह' वस्तु दर्शन का प्राण है। इसमें पाँच अस्तिकाय की व्यवस्था, लोक व्यवस्था, विश्व व्यवस्था, द्रव्य व्यवस्था, तत्त्व व्यवस्था और पदार्थ की व्यवस्था प्रतिपादित की गई है।

इस ग्रंथ में आरम्भ की 26 गाथाओं में पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, गुण–पर्याय और उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की सत्ता सिद्ध की गई है।

आचार्य कुन्दकुन्द रचित पंचास्तिकाय संग्रह की आरम्भ की 1 से 26 गाथाओं का संक्षिप्त सार निम्न प्रकार है–

गाथा–1 में इष्टदेव के अन्तर्बाह्य गुणों को, विशेषताओं को बताते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है। जिनेन्द्र देव अनंत गुणों के धारी हैं, भव भ्रमण व सांसारिक दुःखों पर विजय प्राप्त करने वाले हैं। ऐसे तीर्थंकरों की वाणी तीन लोक के सभी जीवों का उपकार करने वाली है, अतः वे तीन लोकों के द्वारा वंदनीय हैं, पूज्यनीय हैं। मैं भी उनकी वंदना करता हूँ।

गाथा–2 में जिनेंद्र देव की वाणी की विशेषतायें बताते हुए जिनवाणी स्वरूप आगम को नमस्कार कर 'समय' नामक ग्रंथ लिखने की प्रतिज्ञा की है। जिनेन्द्र देव स्वयं भवभ्रमण से पार हो गए हैं और उनकी वाणी भी भव्य जीवों को भवभ्रमण के निवारण में निमित्त होने से वंदनीय है। अतः आचार्यदेव प्रस्तुत ग्रंथ में उसी वाणी के अनुसार 'समय' को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

गाथा–3 में 'समय' का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि पाँच अस्तिकायों का समूह ही 'समय' है और पाँच अस्तिकायों के समूह जितने क्षेत्र में रहते हैं, उतना ही 'लोक' (लोकाकाश) है और उसके आगे असीमित 'अलोक' (अलोकाकाश) है।

गाथा–4 में पाँच समय के नाम बताते हुए उन्हें अस्तित्व में नियत, अनन्यमय और अणुमहान कहा गया है।

गाथा–5 में इन पाँच समय को ही 'अस्तिकाय' कहा गया है। इन अस्तिकायों से ही तीन लोक बना है। इन अस्तिकायों में अनंत गुण और अनन्तानंत पर्यायें होती हैं।

गाथा–6 में कहा गया है कि इन्हीं अस्तिकायों में काल को मिलाने पर 'द्रव्य' कहा जाता है। छहों द्रव्यों में विद्यमान गुण उनकी नित्यता और पर्यायें उनकी अनित्यता बतलाते हैं।

गाथा–7 में छहों द्रव्यों की विशेषता बतलाते हुए कहा गया है कि छहों द्रव्य दूध–पानी की तरह एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, मिल जाते हैं और एक दूसरे को अवकाश भी देते हैं, फिर भी वे अपने–अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।

गाथा–8 में सत्ता का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि सत्ता सर्वपदार्थस्थित, सविश्वरूप, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक, अनंतपर्यायमय, सप्रतिपक्ष और एक है।

गाथा–9 में सत्ता व द्रव्य की अनन्यता बताते हुए कहा गया है कि जो उन–उन पर्यायों रूप द्रवित होता है, प्राप्त होता है; उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य सत्ता से अनन्य होता है।

गाथा–10 में द्रव्य का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि– जो सत् लक्षणवाला है, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य से संयुक्त है और जो गुण–पर्याय वाला है, उसे द्रव्य कहते हैं।

गाथा–11 में द्रव्य की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि द्रव्य का कभी उत्पाद या विनाश नहीं होता, सदा सद्भाव ही रहता है। उत्पाद–विनाश तो पर्यायों में ही होता है।

गाथा–12 में द्रव्य व पर्यायों की अभिन्नता बताते हुए कहा है कि पर्यायों से रहित द्रव्य व द्रव्यरहित पर्यायें नहीं होतीं। दोनों अभिन्न हैं, अनन्य हैं।

गाथा–13 में द्रव्य व गुणों का अनन्यपना बतलाया गया है; क्योंकि द्रव्य के बिना गुण और गुण के बिना द्रव्य नहीं होते; अतः द्रव्य और गुण में अभिन्नपना, अनन्यपना है।

गाथा–14 में द्रव्यों के कथन करने की पद्धति सप्तभंगी को बताया गया है।

गाथा–15 में कहा गया है कि सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता। उत्पाद–व्यय तो गुण–पर्यायों में होता है।

गाथा–16 में उक्त बात को ही जीव के उदाहरण द्वारा समझाया गया है। जैसे – चैतन्य जीव का गुण है और देव, मनुष्य आदि पर्यायें हैं।

गाथा–17 में उक्त उदाहरण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि मनुष्य मरकर देव आदि शरीर धारण करने पर दोनों पर्यायों में जीवभाव कभी नष्ट नहीं होता, सदा विद्यमान रहता है।

गाथा–18 में उक्त उदाहरण से ही जीव में अनुत्पन्नपना व अविनष्टपना सिद्ध किया है।

गाथा–19 में कहा गया है कि जब गतिनामकर्म का उदय होता है, तब तक जीव चारों गतियों में रहता है। चारों गतियों में रहते हुए भी जीव के सत् का विनाश और असत् का उत्पाद नहीं होता है।

गाथा–20 में कहा गया है कि जब जीव के आठों कर्मों का अभाव हो जाता है, तब जीव सिद्ध दशा को प्राप्त कर लेता है।

गाथा–21 में निष्कर्ष के तौर पर कह दिया गया कि इसप्रकार जीव गुण–पर्यायों सहित संसरण करता हुआ भावरूप, अभावरूप, भावभावरूप और अभावभावरूप परिणमन करता है।

गाथा–22 व 23 उपसंहारात्मक गाथा हैं।

इनमें **22वीं गाथा** में पाँच अस्तिकाय का उपसंहार करते हुए कहा है कि पाँचों अस्तिकाय अकृत हैं, किसी के बनाए हुए नहीं हैं, अस्तित्वमय हैं और लोक के कारणभूत हैं।

23वीं गाथा में कालद्रव्य का उपसंहार करते हुए कहा है कि जीव व पुद्गल के परिवर्तन से काल की सत्ता सहज ही सिद्ध है।

गाथा–24 में निश्चयकाल का स्वरूप बताते हुए कहा है कि काल रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित, अमूर्त, अगुरुलघु और वर्तना लक्षण वाला है।

गाथा–25 में व्यवहार काल का स्वरूप बताते हुए कहा है कि – व्यवहारकाल समय, निमेष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन, रात, माह, ऋतु, अयन और वर्ष से पहचाना जाता है। समय, निमेष, घड़ी, दिन आदि व्यवहारकाल के माप हैं।

गाथा–26 में व्यवहारकाल के पराश्रितपने को बताते हुए कहा गया है कि व्यवहारकाल का माप पुद्गल के अवलंबन के बिना संभव नहीं; अतः व्यवहारकाल पर के आश्रय से होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन 26 गाथाओं में आचार्यदेव ने हमारी (आत्मा की) सत्ता, हमारे आसपास विद्यमान वस्तुओं की (पुद्गल की) सत्ता, हम जहाँ रहते हैं उसकी (आकाश की) सत्ता, हममें जिसके कारण परिवर्तन होता है उसकी (काल की) सत्ता सिद्ध कर हमें हमारी दुनिया से परिचय कराया गया है।

हमारे अस्तित्व को सिद्ध कर हमें निर्भयता प्रदान की गई है, मरण भय दूर किया गया है।

अपनी सत्ता का स्वरूप समझने के लिए, अपने गुण–पर्यायों को जानने के लिए, उनका उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्व समझने के लिए हमें इसका गहराई से अध्ययन–मनन करना चाहिए।

●

सत्तासिद्धि (पंचस्तिकायसंग्रह टीका)

कलश–1

सहजानन्दचैतन्यप्रकाशाय महीयसे।
नमोऽनेकान्तविश्रान्तमहिम्ने परमात्मने।।1।।

पदविच्छेद :– सहज+आनंद, चैतन्य–प्रकाशाय, नमः+ अनेकांत–विश्रांत–महिम्ने।

शब्दार्थ :– महीयसे = महान है, **नमः** = नमस्कार हो, **विश्रांत** = स्थित है, **महिम्ने** = महिमामय, **परमात्मने** = परम आत्मा हैं जो ऐसे परमात्मा भगवान को।

संदर्भ :– आचार्य अमृतचंद्र अपनी टीका के आरंभ में मंगलाचरण में कारण परमात्मा व कार्य परमात्मा को स्मरण करते हुए कहते हैं कि–

अर्थ :– सहज चेतना के प्रकाश से प्रकाशित, सहज आनंदमय होने से जो अत्यंत महान हैं और (परस्पर विरोधी से प्रतीत होने वाले) अनेकान्त स्वरूप शुद्धआत्मा में स्थित होकर जिन्होंने महिमामय सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त किया है – ऐसे परमात्मा को मेरा नमस्कार हो।

व्याख्या :– मंगलाचरण में प्रायः इष्ट देव–शास्त्र–गुरु को गुणगान पूर्वक स्मरण किया जाता है। अतः आचार्य अमृतचंद्र इस पंचास्तिकायसंग्रह ग्रंथ की टीका के आरंभ में कारण परमात्मा की महानता और कार्य परमात्मा के कारणरूप गुणों को स्मरण करते हुए उनकी वन्दना करते हैं।

इस कलश में भगवान के उन गुणों की चर्चा की गई है, जिन्हें हम भी अपने जीवन में पाना चाहते हैं और जिन्हें हम प्राप्त कर सकते हैं।

सभी जीव सहज आनंद चाहते हैं। भगवान ने उस सहज आनंद को प्राप्त कर लिया है। अतः वे अति महिमावान हैं। हमें जो आनंद प्राप्त होता है, वह सहज आनंद नहीं है। वस्तुतः वह आनंद ही नहीं है। वह तो आनंद का आभास मात्र है। वह आनंद पाँच इंद्रियों के एवं वस्तुओं के आधीन है। जैसे – यदि हम मिठाई का आनंद लेना चाहते हैं, तो वह मिठाई (मिठास युक्त पदार्थ) और रसना इन्द्रिय के सहयोग के बिना संभव नहीं। उसमें वे उपलब्ध हो भी जाएँ तो और अनेकों शर्तें भी हैं – जैसे खाने की इच्छा होना चाहिए, इच्छा हो तो भी भूख भी होना चाहिए, पर्टिकुलर मात्रा में ही खाना चाहिए, अधिक नहीं आदि–आदि। सबसे बड़ी बात इस आनंद के पूर्व और पश्चात् भी अधिकतर दुःख की ही फीलिंग होती है।

भगवान का आनंद किसी के आधीन नहीं, पराधीन नहीं। उन्होंने तो अपने सहज ज्ञान–दर्शन स्वरूप में ही स्थित होकर परिपूर्ण आनंद की प्राप्ति की है।

उनका अंतरंग व बाह्य सभी कुछ अपने सहज ज्ञान से, पूर्ण ज्ञान से ही प्रकाशित है। उनका न ज्ञान पराधीन है, न आनंद। हमारा तो ज्ञान भी पराधीन है और आनंद भी। हम इन्द्रियों,पदार्थ व प्रकाश के बिना ज्ञान कर ही नहीं पाते। हमारा ज्ञान अधूरा ज्ञान है,अल्प ज्ञान है,पराधीन ज्ञान है; जबकि उनका ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान है, स्वाधीन ज्ञान है, पूर्ण ज्ञान है।

इसप्रकार सहज ज्ञान से पूर्ण और सहज आनंद से पूर्ण प्रकाशित होने के कारण उनकी महिमा अद्भुत है।

उनकी इस महानता का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता है; क्योंकि उनमें विद्यमान अनंत गुणों की पूर्ण पर्याय प्रगट हो गई है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, अनंत सुख आदि–आदि। अनंत गुणों की अनंत पर्यायों को व्यक्त किया नहीं जा

सकता, अतः आपकी महिमा अवर्णनीय है; किंतु उससे भी अधिक महिमावान वह आत्मा है, जिसमें लीन होकर आप परमात्मा बने। वह शुद्ध आत्मा तो अत्यंत महान है।

इस कलश में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमें 'आनंद' को भी 'सहज' कहा है और 'ज्ञान' को भी सहज ही कहा है।

छह द्रव्यों में जीव द्रव्य सहज चेतना के प्रकाश से प्रकाशित है और सहज आनंद से परिपूर्ण है।

जो वस्तु का, पदार्थ का, द्रव्य का स्वभाव होता है; वह उसमें सहज होता है। जैसे – अग्नि का स्वभाव उष्णता है और पानी का शीतलता। जिसप्रकार अग्नि में उष्णता और पानी में शीतलता सहज है, उन्हें जुटाने का प्रयास नहीं करना पड़ता; उसीप्रकार जीव चिदानन्द, ज्ञानानन्द स्वभावी है। उसे अन्यत्र कहीं से आनन्द पाने के प्रयास की आवश्यकता नहीं है अर्थात् **जो जीव सहज चेतना से प्रकाशित आत्मा के संपर्क में जाएगा, आत्मा की अनुभूति करेगा, वह सहज आनन्द को प्राप्त करेगा ही, भोगेगा ही; क्योंकि वह उसका स्वभाव है।**

सहज आनंद का आरम्भ सहज चेतना के प्रकाश से प्रकाशित आत्मा की अनुभूति में होता है। सहज आनंद की वृद्धि उसी अनुभूति की वृध्दि में होती है और सहज आनन्द की पूर्णता भी सहज चेतना के प्रकाश से पूर्णतया प्रकाशित होने से होती है।

संक्षेप में कहें **तो सहज आनंद की प्राप्ति का मार्ग एकमात्र 'सहज ज्ञान' ही है।** 'सहज ज्ञान' की सहज स्वीकृति है, सहज अनुभूति है।

सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज शांति, सहज चारित्र, सहज आनंद आदि सभी गुण आत्मा में शक्ति रूप से विद्यमान हैं अर्थात् आत्मा में हैं। जो उन्हें पर्याय में भी प्रगट कर लेता है,वह भगवान बन जाता है।

हे भगवन ! आपने अपने अनेकान्त स्वरूप आत्मा को जाना, पहिचाना और उसी में स्थित हो गए; तो आप की पर्याय में भी पूर्ण ज्ञान–दर्शन, आनंद आदि सभी गुण पूर्णता को प्राप्त हो गए। आप महिमामय परमात्म पद को प्राप्त हो गए। अनेकांत स्वरूप शुद्ध आत्मा में स्थित होने की ऐसी ही अपूर्व महिमा है। इसलिए कारण परमात्मा रूप शुद्ध–आत्मा महान है।

इस कलश में शुद्धात्मा को अनेकान्त स्वरूप कहकर आचार्यदेव वस्तु के अनेकान्त स्वरूप की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करना चाह रहे हैं; क्योंकि अनेकान्त स्वरूप वस्तु का दिग्दर्शन (कथन) ही इस ग्रंथ का मूल उद्देश्य है। यद्यपि सभी वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं, तदपि ध्यान का ध्येय तो एकमात्र अनेकान्त स्वरूप शुद्ध आत्मा ही है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि इस कलश में कारण परमात्मा स्वरूप सहज चेतना व सहज आनंद से प्रकाशित अनेकान्त रूप शुद्ध–आत्मा के साथ–साथ, उसमें स्थित होकर पूर्ण शुद्धता, पूर्ण आनंद की प्राप्ति करने वाले कार्य परमात्मा को भी नमस्कार किया गया है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि आचार्य अमृतचंद्र परमात्मा की महिमा के साथ साथ उस शुद्धात्मा की महानता को भी नमनीय मानते हैं, कहते हैं; जिसके आश्रय से परमात्मा, परमात्मा बने। इनकी दृष्टि में **परमात्मा तो महिमावान हैं और शुद्धात्मा महान है,** क्योंकि उसके आश्रय से हम भी भगवान बन सकते हैं; अतः इस कलश में भगवान को पहचानकर, अपने ज्ञान में उनकी महिमा लाकर, उन्हें नमस्कार किया गया है।

इसके पश्चात् दूसरे कलश में शास्त्रों का स्वरूप बताते हुए वे शास्त्रों को नमस्कार करते हैं।

●

कलश–2

दुर्निवारनयानीक विरोधध्वंसनौषधिः।
स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनी सिद्धांतपद्धतिः।।2।।

पदविच्छेद :– दुर्निवार–नयानीक–विरोध–ध्वंसन+औषधिः, स्यात्कार–जीविता, जीयात्+जैनी, सिद्धान्त–पद्धतिः।

शब्दार्थ :– दुर्निवार = जिसका खंडन करना मुश्किल है, **नयानीक** = नयों का समूह, **ध्वंसन** = नाश करने वाली, **औषधि** = दवाई, **स्यात् कार** = स्यात् शब्द का जिसमें प्रयोग किया जाता है ऐसी स्याद्वाद कथन पद्धति, **जीविता** = जीवन है, **जीयात्** = जयवंत हो, **जैनी** = जिनेन्द्र भगवान द्वारा कही गई।

संदर्भ :– इस कलश में आचार्य अमृतचंद्र जिनवाणी का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि–

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान के सिद्धांतों को कथन करने की पद्धति स्यात्कार से ही जीवित रहती है। यह स्यात्कार सिद्धान्त पद्धति दुर्निवार नयों के समूह के विरोध रूपी बीमारी का नाश करने वाली दवाई के समान है। ऐसी स्यात्कार युक्त जिनवाणी जयवंत हो।

व्याख्या :– इस कलश में कहा जा रहा है कि 'स्यात्' पद से युक्त कथन ही जिनवाणी हो सकते हैं। उसके बिना एकान्त से किये गए कथन जिनवाणी कहलाने के योग्य नहीं है। इसलिए प्रथम पंक्ति में 'स्यात्कार' को शास्त्रों का जीवन कहा गया है। दूसरी पंक्ति में 'स्यात्कार' शैली की विशेषता बतलाई गई है।

इसमें 'स्याद्वाद' शैली की उपमा दवाई से दी गई है। जिसप्रकार दवाई बीमारियों का नाश करने वाली होती है; उसीप्रकार स्याद्वाद पद्धति का औषधि रूपी कथन नयों की विरोध रूपी बीमारी को नाश करने वाला है। ऐसी स्याद्वाद रूपी जिनवाणी की जय हो, जय हो, जय हो।

वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझाने वाली सापेक्ष कथन पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं। स्याद्वाद में स्यात् शब्द किसी अपेक्षा अर्थ में प्रयोग किया गया है। यह शब्द 'सर्वथापने' का निषेध करने वाला और अनेकान्त को प्रकाशित करने वाला है।

वाद का अर्थ होता है कथन करना, कहना, बताना। इसप्रकार स्याद्वाद का पूरा अर्थ हुआ –स्यात् शब्द का प्रयोग करते हुए वस्तु का कथन करना। चूँकि वस्तु में अनन्त धर्म हैं, अत: अनन्त धर्मात्मक वस्तु का कथन एक साथ किया नहीं जा सकता और संपूर्ण वस्तु को समझने के लिए उसके संपूर्ण बिंदुओं का निरीक्षण आवश्यक है; जबकि शब्दों की शक्ति सीमित है, वे एक समय में एक ही धर्म को कह सकते हैं। अत: वस्तु का कथन करते समय प्रयोजनवश कभी उसके एक धर्म को मुख्य करते हैं और कभी दूसरों को। मुख्य धर्म का कथन करते हुए अन्य धर्म का निषेध न हो जाए, वे गौण रूप से स्वीकृत रहें; इसलिए स्याद्वादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् (कथंचित्) शब्द का प्रयोग करते हैं।

इसके पश्चात् टीकाकार कलश 3 में टीका लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं।

●

कलश–3

सम्यग्ज्ञानामलज्योतिर्जननी द्विनयाश्रया।
अथातः समयव्याख्या संक्षेपेणाभिधीयते।।3।।

पदविच्छेद :– समयग्ज्ञान+अमल–ज्योतिः+ जननी, द्विनय+आश्रया, अथ+अतः, संक्षेपेण+अभिधीयते।

शब्दार्थ :– अमल = निर्मल, **जननी** = उत्पन्न करने वाली, **अभिधीयते** = कह रहा हूँ।

संदर्भ :– अपनी टीका का नाम व विशेषता बताते हुए आचार्य अमृतचंद्र इस कलश में कहते हैं कि –

अर्थ :– अब मैं इस ग्रंथ की 'समयव्याख्या' नामक टीका लिख रहा हूँ। यह टीका दो नयों के ऊपर आधारित रहेगी तथा यह सम्यग्ज्ञान रूप निर्मल ज्योति को उत्पन्न करने वाली है।

व्याख्या :– इस कलश में आचार्य अमृतचंद्र ने ग्रंथ लिखने की प्रतिज्ञा के साथ–साथ टीका का नाम भी दिया है। टीका की शैली बताते हुए वे कहते हैं कि यह नयों पर आधारित टीका है। ''जिनागम में दो प्रकार के मूलनय बताये गये हैं – निश्चय–व्यवहार और द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिक। समयसार व नियमसार में निश्चय–व्यवहार की मुख्यता से एवं प्रवचनसार व पंचास्तिकाय में द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिक की मुख्यता से कथन करके उन्होंने अध्यात्म और वस्तुस्वरूप – दोनों को बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है।''[1] इसे पढ़ने का फल बताते हुए वे कहते हैं कि इसे पढ़कर ज्ञान सम्यक् हो जाएगा। यह टीका अज्ञान मल रहित, ज्ञान ज्योति को प्रगट करने वाली है।

इसे पढ़ने पर किन–किन विषयों का ज्ञान होगा?–यही वे आगामी 4, 5, 6वें कलश में बताते हैं।

●

टिप्पणी – 1. पंचास्तिकाय परिशीलन – पं. रतनचन्द भारिल्ल, पृष्ठभूमि, पृ.14 पै.–2

कलश–4

पंचास्तिकायषड्द्रव्यप्रकारेण प्ररूपणम्।
पूर्वं मूलपदार्थानामिह सूत्रकृता कृतम्।।4।।

पदविच्छेद :– पंचास्तिकाय–षड्द्रव्य–प्रकारेण, मूलपदार्थनाम्+ इह।

शब्दार्थ :– प्ररूपणम = वर्णन, **सूत्रकृता** = सूत्रकार आचार्य कुंदकुंद द्वारा, **कृतम्** = किया है।

संदर्भ :– विषय वस्तु के अनुसार गाथाओं का विभाजन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि–

अर्थ :– यहाँ सर्वप्रथम सूत्रकार ने मूल पदार्थों का पंचास्तिकाय और छह द्रव्यों के रूप में वर्णन किया है।

व्याख्या :– संपूर्ण पंचास्तिकाय की विषयवस्तु को तीन भागों में विभाजित करते हुए आचार्य अमृतचंद्र कलश 3 में इस ग्रंथ का वर्ण्य विषय बताते हैं।

सर्वप्रथम सूत्रकार आचार्य कुंदकुंद ने 104 गाथाओं में पंचास्तिकाय और छह द्रव्यों का वर्णन किया है। इसे आचार्य अमृतचन्द्र प्रथम श्रुतस्कंध कहते हैं और आचार्य जयसेन प्रथम महाधिकार।

इसमें प्रतिपादित विषयवस्तु का मूल प्रयोजन शुद्धात्म तत्त्व का सम्यक् ज्ञान कराना है।[1]

इसके बाद की विषय वस्तु को वे 5वें कलश में बताते हैं।

---

1. द्रव्यस्वरूपप्रतिपादनेन शुद्धं बुधानामिह तत्त्वमुक्तम्। कलश–7 समयव्याख्या टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।

कलश–5

जीवाजीवद्विपर्यायरूपाणां चित्रवर्त्मनाम्।
ततो नवपदार्थानां व्यवस्था प्रतिपादिता।।5।।

पदविच्छेद :– जीव+अजीव–द्वि–पर्याय–रूपाणां, नव–पदार्थानां।

शब्दार्थ :– द्वि = दो, **चित्रवर्त्मनाम्** = अनेक प्रकार के कार्य, **प्रतिपादिता** = वर्णन की गई है।

संदर्भ :– इस कलश में आगामी गाथाओं की विषयवस्तु व उनके विभाजन का कारण बताते हुए आचार्य अमृतचंद्र कहते हैं कि–

अर्थ :– उसके बाद की गाथाओं में जीव व अजीव – इन दो की पर्यायों रूप नौ पदार्थों का वर्णन किया गया है; क्योंकि इनके कार्य भिन्न–भिन्न प्रकार के हैं।

व्याख्या :– इसके पश्चात् अर्थात् 105 से 153 तक की 49 गाथाओं में नौ पदार्थों का वर्णन किया गया है। जब जीव व अजीव मिलते हैं तो जीव की विकारी व निर्मल पर्यायों रूप भिन्न–भिन्न प्रकार के कार्य सहित होने वाली सात अवस्थाएँ होती हैं; जिन्हें सात तत्त्व और नौ पदार्थों के रूप में विस्तार से समझाया गया है।

इसे आचार्य अमृतचन्द्र द्वितीय श्रुतस्कंध कहते हैं और आचार्य जयसेन ने इसे दो महाधिकारों में विभक्त कर दिया है। इसमें अंतर मात्र इतना है कि जिसे आचार्य अमृतचन्द्र मोक्षमार्ग प्रपंच चूलिका कहते हैं, उसे ही जयसेनाचार्य तृतीय महाधिकार कहते हैं।

इस खण्ड के प्रतिपादन का मूल उद्देश्य पदार्थ विज्ञान पूर्वक शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति का मार्ग दर्शाना है।

●

कलश–6

ततस्तत्त्वपरिज्ञानपूर्वेण त्रितयात्मना।
प्रोक्ता मार्गेण कल्याणी मोक्षप्राप्तिरपश्चिमा।।6।।

पदविच्छेद :– ततः+तत्त्व–परिज्ञानपूर्वेण, मोक्षप्राप्तिः+पश्चिमा।

शब्दार्थ :– ततः = उसके पश्चात्, **परिज्ञानपूर्वेण** = जानकारी पूर्वक, **त्रितयात्मना** = तीन प्रकार के (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक) मार्ग से, **पश्चिमा** = बाद में।

संदर्भ :– अंतिम गाथाओं की विषयवस्तु बताते हुए आचार्य अमृतचंद्र कहते हैं कि–

अर्थ :– बाद में तत्त्व के परिज्ञानपूर्वक त्रयात्मक (तीन प्रकार के) मार्ग से कल्याण स्वरूप उत्तम मोक्षप्राप्ति कही है।

व्याख्या :– इसके पश्चात् अर्थात् 154 से 173 तक की 20 गाथाओं में मोक्षमार्ग और उसका फल बताया गया है। साथ ही साथ मोक्षमार्ग को कल्याण रूप बताया है और उसका फल परिपूर्ण सुख की प्राप्ति, मोक्ष की प्राप्ति है।

प्रकारांतर से कहें तो आचार्यदेव ने इस ग्रंथ को पढ़ने का,जीवन में उतारने का फल भी बता दिया है।

त्रयात्मक कह कर आचार्यदेव कह रहे हैं कि मोक्षमार्ग तीन नहीं, अपितु तीनों की एकतारूप है। यह कष्ट स्वरूप नहीं, कल्याण स्वरूप है और फल भी हमेशा के लिए कष्टों से मुक्ति रूप ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अमृतचंद्र ने 6 कलश मंगलाचरण के रूप में प्रस्तुत किए हैं, जिनमें 2 कलशों में इष्टदेव व शास्त्र को नमस्कार किया है, एक कलश में ग्रंथ का नामकरण किया है और तीन कलशों में विषयवस्तु बतायी है।

इसके पश्चात् आचार्य कुंदकुंद रचित मूलग्रंथ पंचास्तिकाय संग्रह का मंगलाचरण आरंभ होता है।

●

गाथा–1

इंदसदवंदियाणं तिहुवणहिदमधुरविसदवक्काणं।
अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं।।1।।

पदविच्छेद :– इंद–सद–वंदियाणं, तिहुवण–हिद–मधुर–विसद–वक्काणं, अंतातीद–गुणाणं।

शब्दार्थ :– इंद = इंद्र, **सद** = सौ, **वंदियाणं** = वन्दित है, **तिहुवण** = तीन लोक को, **हिद** = हितकर, **विसद** = विशद (निर्मल व स्पष्ट), **वक्काणं** = वाणी है, **अंतातीद** = अंत से पार हैं जो अर्थात् अनंत, **गुणाणं** = गुणवाले, **णमो** = नमस्कार हो, **जिणाणं** = जिनेन्द्र भगवान को, **जिदभवाणं** = जिन्होंने (चारों गतियों में घूमने रूप) भवों पर विजय प्राप्त की है।

संदर्भ :– इस गाथा में भाव नमस्कार रूप से मंगलाचरण करते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि–

अर्थ :– जो अनंत गुणों के धारी हैं, जिन्होंने भव पर विजय प्राप्त कर ली है, जो सौ इन्द्रों से वन्दित हैं और जिनकी वाणी तीन लोक को हितकर, मधुर एवं निर्मल है–ऐसे जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार हो।

व्याख्या :– मंगलाचरण की इस गाथा में जिनेन्द्र देव के उन विशेष गुणों की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया है, जिनको संसारी जीव पाना चाहते हैं और जिन से संसारी जीव लाभान्वित होते हैं।

सभी संसारी जीव जन्म–मरण के दुःखों से मुक्ति चाहते हैं; अतः उनके आदर्श स्वरूप नमस्कार योग्य भगवान में यह गुण विद्यमान हैं। वे अब संसार में कभी भव धारण नहीं करेंगे। उनमें

अनंत गुण अपनी पूर्णता से प्रगट हो गए हैं, संसारी भी अपने गुणों में विकास करना चाहते हैं।

उनकी वाणी भी ऊर्ध्व, मध्य,अधो तीनों लोकों के जीवों के लिए हितकारी है। संसार के सभी जीव भी तो हित-मित-प्रिय वचन ही चाहते हैं। अतः तीनों लोकों में विद्यमान सौ इंद्रों[1] द्वारा वे वन्दनीय हैं। सौ इन्द्र कह कर देव गति, मनुष्य गति और तिर्यंच गति के सभी जीवों द्वारा पूज्यनीय बताया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में आए 'इंदसदवंदियाणं' द्वारा जिनेन्द्र देव की **महिमा** बतायी गई है।

'तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणं' द्वारा उनकी हमारे जीवन में **उपयोगिता** बतायी गई है।

जिनेन्द्रदेव की वाणी अर्थात् दिव्यध्वनि तीन लोकों के जीवों के लिए शुद्धात्म तत्त्व के प्राप्ति का उपाय बताने वाली होने से 'हितकर' है। मुमुक्षुजनों के मन को हरने वाली होने से 'मधुर' है। संशय आदि दोषों से रहित होने के कारण 'विशद' है।

उक्त विशेषण से यह भी सिद्ध होता है कि इसमें उपदेश दाता सभी अरहंतों को नमस्कार किया गया है और 'इंदसदवंदियाणं' विशेषण तीर्थंकर अरहंतों की ओर इशारा करता है।

'अंतातीदगुणाणं' द्वारा आचार्य देव कहना चाह रहे हैं कि जिनागम में **सर्वज्ञ के गुणों को ही प्रमुख स्थान दिया, व्यक्ति विशेष को नहीं।** जो भी अनंत गुणों के धारी हैं,वे सभी हमें समान रूप से पूज्य हैं, वंदनीय हैं।

टिप्पणी 1 :- इन्द्र (राजा) 100 माने गए हैं। जिनमें 98 इन्द्र देवगति के होते हैं और एक-एक मनुष्य व तिर्यंचगति के। देवगति में भवन वासी देवों के 40, व्यंतर देवों के 32, कल्पवासी देवों के 24 और ज्योतिषी देवों के 2- इसप्रकार 98 इन्द्र होते हैं। चक्रवर्ती मनुष्य गति का और शेर तिर्यंचगति का इन्द्र माना जाता है।

'जिदभवाणं' द्वारा उनमें **सांसारिक समस्त दुःखों का अभाव बताया** गया है। यद्यपि संसार में प्राणियों को अनेक प्रकार के दुःख होते हैं; किन्तु उनमें सबसे प्रबल दुःख जन्म–मरण का होता है, जिसका उनके जीवन में अभाव हो गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि तीर्थंकर अरहंतों के उक्त चार विशेषण में से दो विशेषण उनके अंतरंग वैभव को बताते हैं और दो विशेषण उनके बाह्य वैभव को।

तात्पर्यवृति टीका में आचार्य जयसेन कहते हैं कि यह असाधारण मंगल है। इसमें '100 इंद्रों द्वारा वंदनीय' कहकर जिनेन्द्र देव का '**पूजातिशय**' बतलाया है। इसी तरह हितकारी, मधुर तथा विशद कहकर उनकी वाणी दिव्यध्वनि का '**वचनातिशय**' प्रतिपादित किया है और अनंत द्रव्य,अनंत क्षेत्र, अनंत काल तथा अनंत भाव को जानने के कारण केवलज्ञान का '**ज्ञानातिशय**' दिखलाया है। साथ ही पंच परावर्तन रूप संसार का नाश करने वाले होने के कारण जिनेन्द्र देव को '**कृतकृत्य**' कहा है।

इसप्रकार चार विशेषण पूजातिशय, वचनातिशय, ज्ञानातिशय तथा कृतकृत्य कह कर जिनेन्द्र देव का द्रव्यरूप तथा भावरूप स्मरण कर के असाधारण मंगल किया है।

इसप्रकार इस गाथा में इष्टदेव को नमस्कार करने के पश्चात् दूसरी गाथा में आचार्यदेव शास्त्र को नमस्कार करते हैं।

●

गाथा–2

समणमुहुग्गदमट्ठं चदुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं।
एसो पणमिय सिरसा समयमिणं सुणह वोच्छामि।।2।।

पदविच्छेद :– समण–मुहुग्गदम्+अट्ठं, चदुग्गदि–णिवारणं, समयम्+इणं।

शब्दार्थ :– समणम् = श्रमण (सर्वज्ञ–वीतराग) के, **मुहुग्गदम्** = मुख से निकले हुए, **अट्ठं** = पदार्थ को, **चदुगदि** = चारों गतियों के, **णिवारणं** = निवारण करने के लिए, **सणिव्वाणं** = निर्वाण को, **एसो** = यह, **पणमिय** = प्रणाम करके, **सिरसा** = सिर झुकाकर, **समयम्** = जिनेन्द्रदेव की वाणी रूप शब्द समय को और 'समय' नामक ग्रंथ को, **इणं** = इसको (समय को), **सुणह** = सुनो, **वोच्छामि** = कहता हूँ।

संदर्भ :– ग्रंथ का नाम, फल, प्रयोजन और प्रामाणिकता बताते हुए इस गाथा में आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि–

अर्थ :– चारों गतियों का निवारण करने वाले, निर्वाण की प्राप्ति कराने वाले, तीर्थंकरों के मुख से निकले हुए पदार्थों के वचनों (जिनवाणी, शास्त्रों) को नमस्कार करके इस 'समय' नामक ग्रंथ को मैं कहता हूँ और तुम भी उन्हें नमस्कार कर ध्यान से सुनो।

व्याख्या :– इस गाथा में 'समय' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है (i) जिनेन्द्रदेव की वाणी रूप दिव्यध्वनि और (ii) 'समय' नामक प्रस्तुत ग्रंथ। चूँकि जिनेन्द्रदेव की वाणी (दिव्यध्वनि) प्रणाम करने योग्य भी है और कथन करने के योग्य भी; अतः जिनवाणी को

नमस्कार करते हुए आचार्यदेव प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं जिनेन्द्र देव की वाणी से निकले पदार्थों का वर्णन इस 'समय' नामक ग्रंथ में करूँगा। जिनेन्द्रदेव के समान उनकी वाणी भी पूज्यनीय, वन्दनीय है। तुम्हें भी उसका सम्मान करना चाहिए। जिनवाणी[1] का पठन-पाठन, लेखन ही उसका सम्मान करना है। अतः मैं उन तीर्थंकरदेव की वाणी के अनुसार जीवादि नव पदार्थों का वर्णन कर रहा हूँ। तुम उसे ध्यान से पढ़ना; क्योंकि इसे पढ़कर, जीवन में उतारकर तुम चारों गतियों में भटकने से बच सकते हो,सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त हो सकते हो। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस गाथा में तीर्थंकरों को 'श्रमण' कहा है।

यही कारण है कि आदिनाथ से लेकर महावीर तक की चली आ रही परंपरा को 'श्रमण परंपरा' कहा जाता है; किन्तु आजकल 'श्रमण' शब्द साधुओं, मुनिराजों के लिए बहुतायत से प्रयुक्त होता है, अतः टीकाकारों ने मुनिराजों व तीर्थंकरों में भेद करने के लिए अपनी टीका में 'श्रमण' का अर्थ 'महाश्रमण' करते हुए 'तीर्थंकर' अर्थ ही लिया है।

जिस 'समय' को कहने की प्रतिज्ञा आचार्यदेव ने की है, उस 'समय' का अर्थ ही आचार्य कुन्दकुन्द गाथा 3 में बता रहे हैं।

●

---

1. आज 'जिनवाणी' शब्द आगम के, शास्त्रों के अर्थ में रूढ़ हो गया है; किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समय तक तो दिव्यध्वनि रूप जिनवाणी श्रुत परंपरा से ही चली आ रही थी; अत: आचार्य जयसेन ने 'समय' का अर्थ शब्द समय, अर्थसमय व ज्ञानसमय किया है। उनके अनुसार आचार्यदेव 'शब्द समय' (दिव्यध्वनि) को नमस्कार कर 'अर्थ समय' (समय नामक ग्रंथ) को कह रहे हैं, जिससे 'ज्ञान समय' की प्रसिद्धि हो।

गाथा–3

समवाओ पंचण्हं समउ त्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं।।3।।

शब्दार्थ :– **समवाओ** = समूह, **पंचण्हं** = पाँच पदार्थों का, **समउ** = समय है, **जिणुत्तमेहिं** = जिनवरों ने, **पण्णत्तं** = कहा है, **सो** = वह, **च** = और, **एव** = ही, **हवदि** = होता है, **लोओ** = लोक, **तत्तो** = उससे आगे, **अमिओ** = अमाप (असीमित, अनंत), **अलोओ** = अलोक, **खं** = आकाश।

सन्दर्भ :– 'समय' और लोक–अलोक का स्वरूप बताते हुए आचार्य कुंदकुंद इस गाथा में कहते हैं कि–

अर्थ :– जिनेंद्र भगवान ने पाँच पदार्थों (द्रव्यों) के समूह को ही 'समय' कहा है। इन पाँच पदार्थों के समूह जितना ही लोक है और उससे आगे असीमित, अनंत अलोक आकाश है।

व्याख्या :– इस गाथा की विशेष बात यह है कि इसमें पाँच द्रव्यों के समूह को 'समय' कहा गया है। यह पाँचों समय आकाश में रहते हैं। इन समय की उपस्थिति व अनुपस्थिति की अपेक्षा आकाश के दो भेद हो गए – लोकाकाश और अलोकाकाश।

जहाँ सभी द्रव्य साथ में रहें, वह **अशुद्ध आकाश है**[1], लोकाकाश है और जहाँ **शुद्ध आकाश** है, अकेला आकाश है; वह अलोकाकाश है। अलोकाकाश शून्यरूप नहीं है; किंतु शुद्ध आकाश द्रव्य है। अलोकाकाश का कहीं अंत नहीं है। लोक के क्षेत्र से अनंत गुणा अलोकाकाश है।

इसप्रकार इस गाथा में पाँच 'समय' की सामान्य चर्चा के उपरांत अब आगे गाथा 4 में वे इन्हीं 'पाँच समय' की विशेष चर्चा करते हैं।

●

---
1. पंचास्तिकायसंग्रह प्रवचन पृ: 82

गाथा–4

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आगासं।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता।।4।।

पदविच्छेद :– धम्मा+अधम्मा

शब्दार्थ :– जीवा = जीव, **पुग्गल काया** = पुद्‌गल काय, **धम्मा** = धर्म, **अधम्मा** = अधर्म, **तहेव** = तथा, **आगास** = आकाश, **अत्थित्तम्हि** = अस्तित्व में, **णियदा** = नियत, **अणण्णमइया** = अनन्यमय, **अणुमहंता** = अणुमहान (प्रदेशों से महान) हैं।

संदर्भ :– इस गाथा में समय के पाँच भेदों के नाम व उनकी विशेषता बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि –

अर्थ :– जीव, पुद्‌गलकाय, धर्म, अधर्म और आकाश ये सभी अस्तित्व में नियत हैं, अस्तित्व से अनन्यमय हैं और अणुमहान हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में समय के पाँचों नामों के साथ–साथ उनका अस्तित्व और कायत्व की सत्ता सिद्ध की गई है। आचार्यदेव जिन पाँच समय की चर्चा इस ग्रंथ में करने वाले हैं, वे सर्वप्रथम उसकी सत्ता सिद्ध करते हैं; क्योंकि जिसकी सत्ता ही न हो, अस्तित्व ही न हो; उसका वर्णन वन्ध्यासुत के विवाह के समान ही निरर्थक होगा।

इसकी प्रथम पंक्ति में पाँचों समय के नाम दिए गए हैं – जीव, पुद्‌गलकाय, धर्म, अधर्म और आकाश। द्वितीय पंक्ति में उक्त पाँचों समय में दो विशेषताओं की उपस्थिति बताई गई है। ये पाँचों समय ही अस्तित्व से भिन्न–भिन्न नहीं हैं; अनन्य हैं और अस्तित्व में निश्चित रूप से रहते हैं तथा पाँचों ही अणुमहान होने से कायवान (बहुप्रदेशी) भी हैं।

नियत = व्यवस्थित, निश्चित विद्यमान।

इस विशेषण द्वारा आचार्यदेव कह रहे हैं कि- प्रत्येक द्रव्य अस्तित्व में निश्चित रूप से रहते हैं, व्यवस्थित हैं। प्रत्येक द्रव्य की अपनी-अपनी सत्ता है। वे अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य के आधीन नहीं,पराधीन नहीं। जीव का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है, पुद्गल का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। इसीप्रकार धर्म, अधर्म, आकाश का भी अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व है; जो उनमें सदा विद्यमान है।

अनन्यमय = एकमेक होना, भिन्न-भिन्न नहीं होना।

द्रव्य व अस्तित्व गुण चीनी और मिठास की तरह एकमेक हैं, अनन्य[1] हैं। वे डिब्बे में रखी चीनी की तरह भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि- पाँचों ही 'समय' अस्तित्व से अनन्य व नियत हैं; अतः वे पाँचों ही 'अस्तिरूप' हैं।

अणुमहान = अणु = एक प्रदेश। **महान =** बहुत प्रदेशों द्वारा क्षेत्र से महानपना होना अर्थात् प्रदेशों के समूह को अणुमहान कहते हैं। यहाँ अणु शब्द का प्रयोग प्रदेश का तथा महानपने का प्रयोग बहुप्रदेशीपने का सूचक है।

---

1. यहाँ विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि द्रव्य गुण से न तो पूर्णतः भिन्न ही है और न ही पूर्णतः अभिन्न, अनन्य। द्रव्य गुण से कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अनन्य; क्योंकि ''उनके अन्यपने व अनन्यपने का कथन नयाधीन है। अत: पर्यायार्थिक नय से वे अपने से कथंचित् अन्य या भिन्न हैं तथा द्रव्यार्थिक नय से स्वयं ही सत् या विद्यमान रूप होने के कारण अस्तित्व से अनन्य या अभिन्न हैं।''

'जिनेन्द्र भगवान ने नय दो प्रकार कहे हैं- द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक। वहाँ वस्तु का कथन सर्वथा एक नय के आधीन नहीं होता है, अपितु दोनों नयों के आधीन होता है। वस्तु का स्वरूप भी सामान्य-विशेष अस्तित्व वाला होने से सामान्य स्वरूप का कथन द्रव्यार्थिक नय से तथा विशेष स्वरूप का कथन पर्यायार्थिक नय से होता है।

– पंचत्थियसंगहं सुत्तं, जयसेनाचार्य की गाथा 4 की टीका के आधार पर, पृ. 37,38

पुद्गल का छोटे से छोटा अंश, एक परमाणु जितनी जगह रोके, उसे प्रदेश कहते हैं और उसके समूह को '**काय**' कहते हैं।

पाँचों समय (द्रव्य) कायत्व वाले हैं; क्योंकि वे अणुमहान हैं। यहाँ काय से तात्पर्य शरीर से नहीं है; किंतु कायपना अर्थात् बहुप्रदेशीपना/प्रदेशों का समूहपना से है। जिनके प्रदेशों का समूहपना है; उनमें कायपना है। जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म और आकाश – इन पाँचों समय को प्रदेशों का समूहपना है; अतः इन्हें कायपना भी है। जैसे– आत्मा के असंख्य प्रदेश उसकी काय हैं और शरीर के अनंत प्रदेश उसकी काय हैं।

जो व्यक्तिरूप में अणु और शक्तिरूप में महान हो, वह अणुमहान है। इससे परमाणु में भी अणुमहानपना सिद्ध होता है, प्रत्येक रजकण में अणुमहानपना सिद्ध होता है; क्योंकि परमाणु व्यक्तिरूप से एक प्रदेशी होने के कारण अणु है और शक्तिरूप से अनेक प्रदेशी होने के कारण अणुमहान है।इसप्रकार परमाणु में अणुमहानपना सम्भव होने के कारण वह भी कायवान है।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी है। प्रदेश–प्रदेश में अनंत गुण हैं और उस प्रदेश का समूह **जीव** है और उसकी काय अर्थात् असंख्य प्रदेश हैं। इसप्रकार जीव में अणु महानपना संभव होने के कारण वह भी कायवान है।

विशेष बात ध्यान देने की यह है कि शरीरकाय जीव को नहीं है। शरीरकाय पुद्गल परमाणु को है। अनेक रूप से होने की परमाणु में शक्ति है, इसलिए उसमें अनेकपना परमाणु का कायपना है। इसप्रकार शरीर का कायपना परमाणु से बना हुआ है, इसलिए परमाणु को भी अनेक प्रदेश होने की शक्ति वाला गिनकर कायरूप से गिनने में आया है। अतः शरीर का कायपना आत्मा का नहीं और आत्मा का कायपना पुद्गल का नहीं, शरीर का नहीं।

पुद्गल के जो भी स्कंध दिखाई देते हैं, वह सब परमाणु की संयोग रूप होने की शक्ति के कारण ही होते हैं। जैसे शरीरकाय। शरीर बहुत परमाणुओं का समूह होने से पुद्गलकाय है।

आत्मा, धर्मास्ति, अधर्मास्ति और आकाश – ये चार तो स्वतः काय हैं। स्वतः अर्थात् उनके बहु प्रदेश स्वतः स्वयं से अनादि अनंत हैं।[1] जीव,धर्म और अधर्म असंख्य प्रदेशी होने से अणुमहान है और आकाश अनंत प्रदेशी होने से अणुमहान है। अणुमहान होने से अमूर्त होने पर भी उनमें 'कायपना' है।

संक्षेप में कहें तो जीव, धर्म और अधर्म असंख्य प्रदेशी होने से अणुमहान हैं; आकाश अनंत प्रदेशी होने से अणुमहान है; स्कंध बहु प्रदेशी होने से अणुमहान है और परमाणु बहु प्रदेशी होने की शक्ति अपेक्षा अणुमहान है; अतः पाँचों ही कायवान हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पाँचों समय में 'अस्तिपना' व 'कायपना' होता है।

इस (अस्तित्व व कायत्व की) अपेक्षा इन पाँच समय को क्या कहा जाता है? यही इसके पश्चात् 5वीं गाथा में बताया जा रहा है।

•

बुद्धिपूर्वक / अबुद्धिपूर्वक

जो वस्तु छद्मस्थ के ज्ञान का ज्ञेय बन जाए, उसे बुद्धिपूर्वक कहते हैं और जो वस्तु केवलज्ञानगम्य हो, वह अबुद्धिपूर्वक कहलाती है।

---

1. कानजीस्वामी प्रवचन; पृष्ठ 187

गाथा-5

जेसिं अत्थि सहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं।
ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तेल्लोक्कं।।5।।

शब्दार्थ :- **जेसिं** = जिनका, **अत्थि** = अस्तित्व है, **सहाओ** = स्वभाव है/स्वरूप है, **गुणेहिं** = गुणों, **सह** = साथ, **पज्जएहिं** = पर्यायों, **विविहेहिं** = अनेक प्रकार की, **ते** = वे, **होंति** = होते हैं, **अत्थिकाया** = अस्तिकाय, **णिप्पण्णं** = निष्पन्न/उत्पन्न है, **जेहिं** = जिनसे, **तेल्लोक्कं** = तीन लोक।

संदर्भ :- इस गाथा में पाँच समय का दूसरा नाम और उन पाँचों में गुण-पर्यायों का अस्तित्व बताते हुए कहा गया है कि-

अर्थ :- अनेक प्रकार के गुण और पर्यायें जिनका स्वभाव है, वे समय अस्तिकाय हैं। उनसे ही तीन लोक बना हुआ है।

व्याख्या :- इस गाथा में कहा गया कि - ''पूर्व गाथा में जिनका अस्तित्व व कायत्व सिद्ध किया गया है, वे पाँच समय ही 'पाँच अस्तिकाय' हैं।'' अस्ति= सत्ता वाले, अस्तित्व वाले पदार्थ और काय = बहुत प्रदेश वाले पदार्थ अथवा जिनके प्रदेशों का समूह हो सकता है। चूँकि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ही बहु प्रदेश वाले हैं; अतः वे ही पाँच अस्तिकाय कहलाते हैं। जैसे- जीव की अस्ति (सत्ता) भी है और काय (असंख्य प्रदेश) भी हैं, अतः उसे जीवास्तिकाय कहते हैं। इसीतरह शेष चारों के साथ अस्तिकाय लगेगा। जैसे पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय।

ये पाँच अस्तिकाय गुण और पर्यायवान होते हैं अर्थात् गुण और पर्याय रूप होना उनका स्वभाव है। जो जिसका स्वभाव होता

है, वह उससे अनन्य होता है। उनमें प्रदेश भेद नहीं होता। पाँचों समय, पाँचों अस्तिकाय अपने स्वयं के अनेक गुण-पर्यायों सहित अस्तित्व वाले हैं अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में जो अनंत गुण व अनन्तानन्त पर्यायें हैं, वे उनका अस्तित्व हैं। उससे उनका अस्तित्व है, पर के कारण से नहीं। जैसे आत्मा की पर्याय शरीर अथवा कर्म के कारण नहीं होती और कर्म व शरीर की अवस्था आत्मा के कारण नहीं होती।

प्रत्येक अस्तिकाय में उन-उनके अपने-अपने गुण एक साथ रहते हैं और पर्यायें एक के बाद एक होती हैं। प्रत्येक अस्तिकाय (पदार्थ) की प्रत्येक पर्याय अपनी शक्तियों, गुणों, पर्यायों से अभिन्न है, अनन्य है तथा अन्य से भिन्न है। अतः अपनी शक्ति और अवस्था से ही प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व है।

वस्तु में गुण विद्यमान हैं अर्थात् वस्तु में ध्रुवता है, जो वस्तु से अनन्य है। वस्तु में पर्याय विद्यमान है अर्थात् वस्तु में उत्पाद-व्यय हैं। यह भी वस्तु का स्वभाव है व वस्तु से अनन्य है।

सत्, सत्ता, अस्तित्व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त होता है। गुण और पर्याय होने से वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, सत् है।

इसप्रकार इस गाथा में गुण-पर्यायों[1] के अस्तित्व की सिद्धि के

टिप्पणी :- द्रव्यों में गुण और पर्याय दो प्रकार के होते हैं - स्वभाव गुण व विभाव गुण, स्वभाव पर्याय व विभाव पर्याय।

केवलज्ञानादि जीव के स्वभाव गुण हैं और मतिज्ञानादि विभाव गुण हैं। सिद्धरूप पर्याय जीव की स्वभाव (व्यंजन) पर्याय है और नर-नारकादि विभाव (व्यंजन) पर्यायें हैं।

शुद्ध परमाणु के रूप, रस, गंध, स्पर्श स्वभाव गुण हैं और द्विअणु आदि स्कन्ध विभाव गुण हैं तथा शुद्ध परमाणु रूप से कायम रहना स्वभाव द्रव्य (व्यंजन) पर्याय है तथा उन द्विअणु आदि स्कन्धों का वर्ण आदि गुणों का परिणमन विभाव अर्थ पर्याय है। इसप्रकार पर्यायें दो प्रकार की हैं- अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय। अर्थ पर्याय भी दो प्रकार की होती है- स्वभाव अर्थ पर्याय और विभाव अर्थ पर्याय। व्यंजन पर्याय के भी दो भेद होते हैं- स्वभाव व्यंजन पर्याय व विभाव व्यंजन पर्याय। अर्थ पर्याय को गुण पर्याय तथा व्यंजन पर्याय को द्रव्य पर्याय भी कहते हैं।

द्वारा वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। वस्तु की सत्ता स्वयं से है। उसे अपने अस्तित्व के लिए किसी पर की अपेक्षा नहीं और कोई पर उसे नष्ट भी नहीं कर सकता है।

जीव स्वतंत्र, जीव अमर; पुद्गल स्वतंत्र, पुद्गल अमर। न जीव कभी मरता है, न पुद्गल कभी नष्ट होता है। जिसे हम मरना या नष्ट होना कहते हैं, वह उन–उन द्रव्यों की पर्यायें बदली हैं। जैसे– मनुष्य पर्याय। यह जीव द्रव्य व पुद्गल द्रव्य – दो द्रव्यों की मिलीजुली अवस्था है, स्थिति है। जब दोनों जुदा हो जाते हैं तो उस जुदाई को, जीव–शरीर के वियोग को, अलग होने को मरण कहा जाता है। वस्तुतः तो जीव अन्यत्र शरीर धारण कर लेता है और पुद्गल का भी रूप बदल जाता है।

संक्षेप में कहें तो द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत्। द्रव्य–गुण त्रिकाल सत् और पर्याय एक समय की सत्। इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा की प्रथम पंक्ति में गुणों और पर्यायों के अस्तित्व द्वारा पाँच समय का अस्तित्व सिद्ध किया गया है और द्वितीय पंक्ति में पाँचों अस्तिकायों में 'अस्तित्व' व 'कायत्व' की सिद्धि दूसरे प्रकार से की जा रही है।

ऊर्ध्व, मध्य, अधो लोकरूप तीन लोक की रचना पाँच अस्तिकाय से होती है। जब तीन लोक का अस्तित्व है, तो पाँच अस्तिकायों का अस्तित्व भी सहज ही सिद्ध हो गया। अन्यथा कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव मानना पड़ेगा जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है; क्योंकि मध्य लोक में हम हैं।

लोक के तीन भाग ही उसके बहु प्रदेशत्व को सिद्ध करते हैं; क्योंकि लोक के तीन भाग होने से आकाश के भी तीन भाग हो गए– ऊर्ध्व आकाश, मध्य आकाश और अधो आकाश। इसप्रकार तीन भागपने से तीनों के समूहरूप से आकाश का कायत्व सिद्ध होता है।

आकाश के समान ही अमूर्त जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य भी ऊर्ध्व, मध्य, अधो लोक में व्यापने के कारण बहुप्रदेशी हैं, कायवान हैं। जैसे– जीव में भिन्न परस्थितियों में समुद्घात आदि के समय लोकव्यापी होने की शक्ति है। मूर्त पुद्गल भी महास्कंधपने से लोकव्यापी होने की शक्ति अथवा व्यक्ति वाला है। दूसरी बात यदि मूर्त पुद्गल में बहुप्रदेशीपना न हो तो इस दुनिया की, तीन लोक की रचना कल्पना लोक की वस्तु हो जाएगी। दिखाई देने वाली सभी वस्तुएँ पुद्गल के बहुप्रदेशीपने का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

इसप्रकार मूर्त व अमूर्त पाँचों समय में 'कायपना' सिद्ध होता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि चौथी गाथा में प्रदेशों की भिन्नता के द्वारा प्रदेशों का समूहपना (कायत्व) सिद्ध किया था और इस पाँचवीं गाथा में लोक के तीन भाग करके उसका बहुप्रदेशीपना (कायत्व) सिद्ध किया जा रहा है। इसीप्रकार इस गाथा में गुण–पर्यायों के अस्तित्व द्वारा पाँच समय का अस्तित्व सिद्ध किया है और चौथी गाथा में अस्तित्व में नियत कहकर अस्तित्व की त्रिकाल स्थापना की थी। जो अनन्य होता है, वह स्वतः सिद्ध होता है, उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में पाँच अस्तिकाय का 'अस्तिपना' व 'कायपना' दूसरे प्रकार से सिद्ध किया गया है। इसमें गुण–पर्यायों द्वारा अस्तिकायों का अस्तित्व और लोक में भाग की अपेक्षा से 'अस्तित्व' व 'कायत्व' – दोनों सिद्ध किए हैं।

इसके पश्चात् 6वीं गाथा में गुणों का नित्यपना व पर्यायों का अनित्यपना द्वारा वस्तु में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य का अस्तित्व सिद्ध किया जा रहा है।

●

गाथा–6

ते चेव अत्थिकाया तेक्कालियभावपरिणदा णिच्चा।
गच्छंति दवियभावं परियट्टणलिंगसंजुत्ता।।6।।

पदविच्छेद :– तेक्कालिय–भाव–परिणदा, परियट्टणलिंग–संजुत्ता

शब्दार्थ :– तेक्कालिय = तीन काल के, **भाव** = भावों रूप (पर्यायों रूप), **तेक्कालियभाव** = भूत, वर्तमान व भविष्य तीनों कालों की पर्यायें जो भूतकाल में वर्त (हो) चुकी हैं, वर्तमान में वर्त (हो) रही हैं और भविष्य में वर्तेंगी (होंगी), **परिणदा** = परिणमित होते हैं, **णिच्चा** = नित्य हैं, **गच्छंति** = प्राप्त होते हैं, **दवियभावं** = द्रव्यत्व को, **परियट्टणलिंग** = परिवर्तनलिंग (परिवर्तन की पहचान कराने वाला चिन्ह अर्थात् काल), **संजुत्ता** = सहित।

संदर्भ :– इस गाथा में नित्यानित्य अस्तिकायों का द्रव्यत्व बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि–

अर्थ :– जो तीन काल के भावों रूप परिणमित होते हैं तथा नित्य हैं – ऐसे वे ही अस्तिकाय काल सहित द्रव्यत्व को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या :– इस गाथा की प्रथम पंक्ति में परस्पर विरोधी से प्रतीत होने वाले नित्य–अनित्य धर्मों की सत्ता सिद्ध की गई है।

यद्यपि लौकिक दुनिया में तो हम देखते हैं कि जो परिवर्तनशील होता है, वह अनित्य होता है; तथापि इस गाथा में कहा जा रहा है कि पाँचों अस्तिकाय तीनों कालों की पर्यायों रूप परिणमित होने से अनित्य होने पर भी नित्य हैं।

जिसप्रकार चलता हुआ पंखा अपनी धुरी पर स्थिर होते हुए भी निरंतर चलता रहता है; उसीप्रकार पर्यायें अनंतकाल से भूत–वर्तमान–भविष्य में परिणमती होने से अनित्य होने पर भी अपने–अपने निश्चित स्वरूप को नहीं छोड़ने के कारण नित्य ही हैं।

यद्यपि तीनों कालों की पर्यायों रूप परिणमित होने से पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अस्तिकाय अनित्य हैं; तथापि द्रव्यार्थिकनय से अपने में सदा विद्यमान ध्रुव गुणों की अपेक्षा नित्य भी हैं। जैसे- पर्यायें बदलने पर भी आत्मा, आत्मा के गुणों को नहीं छोड़ता और पुदगल, पुदगल के गुणों से कभी रिक्त (खाली) नहीं होता।

इसप्रकार इस गाथा में 'तीनों कालों के भावों के रूप में परिणमित होने रूप' विशेषण के द्वारा अस्तिकायों के अनित्य स्वरूप उत्पाद-व्यय का अस्तित्व और नित्य कहकर उक्त पाँचों की ध्रुवता सिद्ध की गई है।

जिसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है, उसे सत् कहते हैं। 'सत् द्रव्य लक्षणं' अर्थात् सत् द्रव्य का लक्षण है। अतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त ये पाँचों अस्तिकाय काल के साथ मिल कर द्रव्य कहलाते हैं; क्योंकि काल का भी अस्तित्व है, सत्ता है, अस्तिपना है।

इस गाथा की द्वितीय पंक्ति में आचार्यदेव ने काल का अस्तित्व सिद्ध किया है। वे कहते हैं कि पाँचों अस्तिकायों में होने वाले परिवर्तन का निमित्त काल है; अतः काल का अस्तित्व सिद्ध है ही। यदि काल की सत्ता नहीं मानेंगे तो, जो वस्तु जहाँ है, जैसी है, वह वहाँ ही, वैसी ही ठहर जाएगी। बच्चे, बच्चे ही रहेंगे और जवान, जवान ही रहेंगे तथा वृद्ध, हमेशा वृद्ध ही रहेंगे। जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध भी है और ऐसी स्थिति कोई चाहेगा भी नहीं।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि पाँचों अस्तिकायों के परिवर्तन रूपी चिह्न के द्वारा काल की सत्ता सिद्ध होती है। काल सहित पाँचों अस्तिकाय को द्रव्य कहा जाता है। इसप्रकार द्रव्य छः हो गए। छः द्रव्यों के समूह को विश्व कहो या तीन लोक कहो, पर्यायवाची हैं। तीन लोक अर्थात् ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक। इन तीनों लोकों में चारों गतियों के सभी जीव तो समाहित होते ही हैं, साथ-ही-साथ

दिखाई देने वाली सभी वस्तुओं के रूप में पुद्गल, जीव–पुद्गल की गति–स्थिति, अवगाहन और परिवर्तन के निमित्त रूप उदासीन सहयोगी के रूप में धर्म, अधर्म, आकाश व काल भी शामिल हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन की विश्व की परिभाषा में सभी कुछ समाहित हो जाता है। कुछ शेष नहीं बचता है; जबकि आज दुनिया में कुछ चुने हुए देशों के समूह को विश्व कहा जाता है और उनके विनाश की आशंका होने पर विश्व के नाश का डर सताता रहता है।

जैनदर्शन इस संदर्भ में कहता है कि विश्व जिन छह द्रव्यों से बना है, वह गुण–पर्यायों का पिंड है। गुण द्रव्यों में हमेशा तीनों कालों में विद्यमान रहते हैं, उनका कभी नाश नहीं होता। मात्र उनकी पर्यायें पलटती हैं। पर्यायों का स्वभाव ही उत्पन्न व नष्ट होना है। ऐसी उत्पन्न–ध्वंसी पर्यायें व ध्रुव गुण प्रत्येक द्रव्य में हैं। अतः द्रव्यों का कभी नाश नहीं हो सकता। जब द्रव्यों का कभी नाश नहीं होता तो उन द्रव्यों से बने तीन लोक का भी कभी नाश नहीं हो सकेगा। अतः हमारी विश्व के विनाश की आशंका व भय निरर्थक है।

दूसरे हमें यह भी डर लगता है, मेरा अस्तित्व समाप्त हो गया तो? उसने मुझे खत्म कर दिया तो? इन सभी 'तो' के जवाब हैं इस गाथा में। यह गाथा हमारे इस डर को समाप्त करती है। यह बता रही है कि भाई! तेरा अस्तित्व पर के कारण नहीं, तेरी गुण–पर्याय के कारण है। अतः हमें अपने अस्तित्व के लिए पर की अपेक्षा नहीं। हमें निर्भय होने के लिए अपना स्वरूप जानना है। मुझमें अनंत गुण हैं, जो कभी नष्ट नहीं होते। अनंत पर्यायें हैं, जो निरंतर बदलती रहती हैं; 'उत्पन्न होना, नष्ट होना' उनका स्वरूप है। स्वरूप भी कैसा? विभाव पर्याय नष्ट होने वाली है और स्वभाव पर्याय कभी नष्ट नहीं होगी अर्थात् जैसी पर्याय अभी है वैसी की वैसी पुनः उत्पन्न हो जाएगी; क्योंकि पर्याय है तो नष्ट होगी ही। वैसी की वैसी पर्याय आने को, पर्याय नष्ट नहीं हुई कहा जाता है।

विभाव पर्यायें बदलती रहती हैं, आज जो है, वह नहीं रहेगी, नष्ट हो जाएगी। आज गरीब है, कल अमीर; आज अज्ञानी, कल ज्ञानी; आज बीमार, कल स्वस्थ।

स्वभाव पर्याय एक बार प्रगट हुई तो प्रतिक्षण बदल कर भी वैसी की वैसी ही सदा रहती है; कभी नष्ट नहीं होती है।

हमारे में विद्यमान गुण-पर्याय ही हमारे उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व के कारण हैं। गुण ध्रुव रहते हैं और पर्यायें बदलती रहती हैं। नित्य बदलकर भी नहीं बदलना हमारा स्वभाव है। नष्ट होकर भी अविनष्ट रहना, उत्पन्न होकर भी अनुत्पन्न रहना हमारा स्वभाव है। जो यह जान लेता है, समझ लेता है, अपना लेता है, वह निर्भय हो जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि तीसरी गाथा में आकाश द्रव्य के अस्तित्व को बताया गया है। चौथी गाथा में सभी द्रव्यों को अस्तित्व से नियत व अनन्यमय कहा गया है। पाँचवीं गाथा में गुण-पर्याय का अस्तित्व सिद्ध किया गया और छठवीं गाथा में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और काल का अस्तित्व बताया गया है।

इसके पश्चात् सातवीं गाथा में प्रत्येक द्रव्य के स्वतंत्र अस्तित्व की सिद्धि की गयी है।

●

गुण-पर्यायों का आधार कौन है?

अस्तित्व, वस्तुत्व व ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त सहभावी गुणों का आधार द्रव्य है और प्रत्येक क्षण में होने वाली परस्पर में भिन्न-भिन्न क्रमवर्त्ती पर्याय का आधार भी द्रव्य है। एक ही द्रव्य है; दूसरा द्रव्य नहीं। जिसप्रकार चीनी के डिब्बे में चीनी रहती है; उस तरह नहीं, अपितु चीनी के एक-एक परमाणु में चीनी के अनन्त गुण साथ में रहते हैं। प्रत्येक द्रव्य के गुण का व पर्याय का आधार वही द्रव्य है। वह परमाणु दूसरे के गुण-पर्याय का आधार नहीं है। - पंचास्तिकाय संग्रह प्रकाश, पृ. 243

गाथा–7

अण्णोण्णं पविसंता देंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति।।7।।

पदविच्छेद :– ओगासम्+अण्णम्+अण्णस्स।

शब्दार्थ :– अण्णोण्णं = एक–दूसरे में, **पविसंता** = प्रवेश करते हैं, **देंता** = देते हैं, **ओगासम्** = अवकाश, **अण्णम्मण्णस्स** = परस्पर एक दूसरे को, **मेलंता** = मिल जाते हैं, **णिच्चं** = नित्य, **सगं** = अपने–अपने, **सभावं** = स्वभाव को, **ण** = नहीं, **विजहंति** = छोड़ते।

संदर्भ :– छहों द्रव्यों के अस्तित्व की विशेषता बताते हुए आचार्य कुंदकुंद इस गाथा में कहते हैं कि–

अर्थ :– यद्यपि वे छहों द्रव्य एक–दूसरे में प्रवेश करते हैं, परस्पर एक–दूसरे को अवकाश देते हैं, दूध–पानी की तरह मिल जाते हैं, तथापि वे सभी हमेशा अपने–अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में छहों द्रव्यों की पूर्ण स्वतंत्रता व निर्लिप्तता की उद्घोषणा की गई है। आचार्यदेव कह रहे हैं कि तीन लोक में छहों द्रव्य एक साथ एक क्षेत्र में मिश्रित होकर रहते हैं। कोई एक–दूसरे में प्रवेश नहीं करता है। जैसे– आत्मा कर्म रूप नहीं होता, कर्म आत्मा रूप नहीं होते। धर्मास्ति के प्रदेश अधर्मास्ति, आकाश, काल रूप नहीं होते और अधर्मास्ति आदि सभी के प्रदेश धर्मास्ति आदि किसी के भी रूप नहीं होते। पुद्गल, पुद्गल के स्वरूप में है। इसीप्रकार धर्म, अधर्म, आकाश व काल भी अपने–अपने स्वरूप में रहते हैं। जिसप्रकार एक अंगुल में छहों

द्रव्य एक साथ हैं, उसीप्रकार उसी प्रमाण पूरे लोक में हैं। इसप्रकार एक साथ एक क्षेत्र में रहने पर भी छहों द्रव्य एक-दूसरे से भिन्न हैं। कोई किसी को स्पर्श नहीं करता। सब अपने-अपने स्वरूप में रहते है। आत्मा, आत्मा के स्वरूप में है।

विशेष क्या कहें? तीन लोक में छहों द्रव्य एक साथ एक स्थान पर रहने पर भी एक-दूसरे के स्वरूप को ग्रहण भी नहीं करते और अपने-अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते हुए अपने-अपने अस्तित्व में ही रहते हैं।

इसके पश्चात् आठवीं गाथा में अस्तित्व का सामान्य कथन किया जा रहा है।

●

सहभावी/क्रमभावी

गुण साथ में ही रहते हैं। एक गुण पहले एक बाद में ऐसा नहीं होता। इसलिए वे सहभावी या अक्रमवर्ती कहलाते हैं और पर्यायें क्रम से ही होती हैं। एक के बाद एक, एक के बाद एक ही होती हैं। वे गुण के समान एक साथ नहीं हो सकती।

संक्षेप में कहें तो तीन काल के गुण एक साथ रहते हैं; पर तीन काल की पर्यायें एक साथ नहीं हो सकतीं।

एक आत्मा के साथ रहे हुए गुण अनन्त, पर्यायें अनन्त। इन दोनों का अनन्तपना द्रव्य का है। द्रव्य वह अनन्यभूत आधार है, अभिन्नपने आधार है। जैसे - अग्नि आधार और ऊष्णता आधेय; तथापि अभिन्न है। वैसे ही आत्मा आधार, ज्ञान आधेय; तथापि अभिन्न है।

- पंचास्तिकाय प्रकाश, पृ. 244 अंतिम पैरा

गाथा–8

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का।।8।।

पदविच्छेद :– भंग+उप्पाद–धुवत्ता

शब्दार्थ :– सव्वपयत्था = सर्वपदार्थस्थित, **सविस्सरूवा** = सविश्वरूप, **अणंतपज्जाया** = अनंतपर्यायरूप, **उप्पाद** = उत्पाद, **धुवत्ता** = ध्रौव्यात्मक, **भंग** = व्यय, **सप्पडिवक्खा** = सप्रतिपक्ष, **एक्का** = एक, **हवदि** = है।

संदर्भ :– इस गाथा में सत्ता की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि–

अर्थ :– सत्ता सर्वपदार्थस्थित, सविश्वरूप, अनंतपर्यायरूप, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक और सप्रतिपक्ष होते हुए भी एक है।

व्याख्या :– यह गाथा वस्तु के अस्तित्व की विशेषता को बताने वाली महत्त्वपूर्ण गाथा है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व है। उस 'है' के प्रकारों का वर्णन इस गाथा में किया गया है।

इस गाथा की प्रथम पंक्ति में दिए गए विशेषण सत्ता की सार्वजनिक, सार्वभौमिक और सार्वकालिक स्थिति को बताते हैं। सत्ता सर्व पदार्थों में स्थित होने के कारण सार्वजनिक है और विश्व रूप होने के कारण सार्वभौमिक है। सार्वजनिक, सार्वभौमिक सत्ता अनंत पर्याय रूप होने से अनंतकालिक (सार्वकालिक) भी है। इसप्रकार इन तीन विशेषणों के द्वारा सत्ता के 'अनेकता में एकता' वाले रूप को दिखाया गया है और द्वितीय पंक्ति में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य कहकर सत्ता के तीन रूप, सप्रतिपक्ष कहकर दो रूप बताए गए हैं तथा अंत में एक कहकर उसके 'भिन्नता में एकता' के रूप का दिग्दर्शन कराया गया है।

पूर्व की सात गाथाओं में सभी द्रव्यों की भिन्नता की बात की गई थी और इस गाथा में उनकी एकता की चर्चा की जा रही है। सत्ता[1] की अपेक्षा सभी पदार्थ समान हैं।

टिप्पणी 1. – सत्ता दो प्रकार की होती है – महासत्ता और अवान्तरसत्ता

1) महासत्ता – 'सत्' सामान्य को महासत्ता कहते हैं। इसे सामान्य सत्ता भी कहते हैं। यह सभी पदार्थों में व्याप्त होती है और सादृश्य अस्तित्व को सूचित करती है अर्थात् सभी पदार्थों के सामान्य अस्तित्व को एक साथ कहने का नाम ही महासत्ता है।

जो सबसे बड़ा हो, जिसके बाहर कोई ना हो;उसका नाम महासत्ता है। महासत्ता सब को अपने अंदर समेट लेती है। जैसे- हम सब हैं- यहाँ 'हैं' इस आधार पर हम सब महासत्ता के अंतर्गत आते हैं। इसमें 'हैं' की समानता के आधार पर एकता की बात की जाती है। जैसे-तुम भी हो,हम भी हैं; पुस्तक भी है,चींटी भी है और शेर भी है आदि-आदि। इसप्रकार हम सभी की सत्ता है। अतः अस्तित्व की अपेक्षा हम सभी समान हैं।

सत्ता की अपेक्षा जिसे महासत्ता कहते हैं, अस्तित्व की अपेक्षा उसे ही सादृश्य अस्तित्व कहते हैं।

महासत्ता के आधार पर एकता की बात करना सादृश्य अस्तित्व है। सादृश्य अस्तित्व के कारण सभी जीव सत् स्वरूप हैं, अस्तित्वमय हैं, सत्ता स्वरूप हैं। यह 'सत्पना' ही सभी द्रव्यों का सामान्य लक्षण है। अतः सभी द्रव्यों की एकता सादृश्य अस्तित्व पर ही आधारित है। यह एकता समान अर्थ में है, अभिन्न अर्थ में नहीं, जैसे हम भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाले हैं और तुम भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाले हो। हम भी गुण-पर्याय वाले हैं और तुम भी गुण-पर्याय वाले हो – इसलिए इन बातों में हम-तुम एक से हैं। अतः सत् सामान्य की दृष्टि से महासत्ता की अपेक्षा सभी द्रव्य एक से हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि सादृश्य अस्तित्व का अर्थ एक-से होना है, एक होना नहीं। लेकिन लोक में एक-से को एक भी कहा जाता है; अतः महासत्ता की अपेक्षा सभी द्रव्य एक हैं- ऐसा भी कहा जाता है। जैसे- हम सब भारतीय एक हैं – यह कथन सादृश्य अस्तित्व की अपेक्षा ही किया जाता है; लेकिन स्वरूप अस्तित्व की अपेक्षा से तो हम अपने अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के बाहर किसी से भी एक नहीं हैं; क्योंकि सभी का स्वरूप भिन्न-भिन्न होने से सभी का अस्तित्व स्वतन्त्र है। इसे स्पष्ट करते हुए जैन ग्रंथों में कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप अस्तित्व को छोड़े बिना (स्वभाव को छोड़े बिना) ही सादृश्य अस्तित्व (महासत्ता) में शामिल होता है। जैसे कि हम चेतन होकर भी द्रव्य हैं। यहाँ द्रव्यपना, महासत्ता (सादृश्य अस्तित्व) का सूचक है तथा चेतनपना जीव के स्वभाव को दर्शाता है। जीव को द्रव्य में शामिल होने के लिए अपना स्वरूप चेतनपना छोड़ना नहीं पड़ता है। इसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप अस्तित्व को छोड़े बिना सादृश्य अस्तित्व

अस्तित्व, सत्ता, सत्, वस्तु है, है, है– ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं। वस्तु भूतकाल में थी, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगी अर्थात् वस्तु त्रिकाल सत् है। सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है अर्थात् वस्तु ध्रुव भी रहती है और उसमें उत्पाद–व्यय भी होता रहता है।

चौथी गाथा में वस्तु के अस्तित्व को 'है' पने से समझाया गया था। वहाँ कहा गया था कि वस्तु तीनों कालों में वर्तती है, विद्यमान

में शामिल होता है। दूसरे शब्दों में अपने स्वरूप अस्तित्व को छोड़े बिना हम सब महासत्ता के अंश हैं। जैसे हम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य वाले भी हैं, गुण–पर्याय वाले भी हैं; अतः महासत्ता के अंश होकर भी अपने ज्ञान स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं, इसलिए हम चेतन होकर भी द्रव्य हैं व द्रव्य होकर भी चेतनमय हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि स्वरूप अस्तित्व को छोड़े बिना सादृश्य अस्तित्व के बल पर अन्य चीजों में एकत्व का ज्ञान कराना ही सादृश्य अस्तित्व का प्रयोजन है। सादृश्य अस्तित्व में समानता के आधार पर एकता की बात कही गई है। विश्व में जितनी भी वस्तुएँ हैं, उनमें एकता की कल्पना 'है' के आधार पर की गई है कि वे भी 'हैं' और हम भी 'हैं' किंतु मुझमें व आकाश के फूल में कोई संबंध नहीं है; क्योंकि वह 'नहीं है' और 'मैं हूँ'। अतः मुझमें और आकाश कुसुम में न ही स्वरूप अस्तित्व की अपेक्षा समानता है, न ही सादृश्य अस्तित्व की अपेक्षा समानता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैनदर्शन में स्वरूप अस्तित्व को छोड़े बिना ही सादृश्य अस्तित्व के आधार पर एकता की बात स्वीकार की गई है।

2) अवांतर सत्ता – एक–एक निश्चित वस्तु में रहने वाली सत्ता अवांतर सत्ता है। इसे विशेष सत्ता भी कहते हैं। यह स्वरूप अस्तित्व को सूचित करने वाली है।

प्रत्येक द्रव्य का अपने द्रव्य–गुण–पर्याय की सीमा में रहकर जो अस्तित्व है, उसे स्वरूप अस्तित्व कहते हैं अथवा जिनमें प्रदेशभेद नहीं है – ऐसे द्रव्य–गुण–पर्याय का नाम स्वरूप अस्तित्व है अथवा जिनमें अतद् भाव है, अत्यंताभाव नहीं है– ऐसे द्रव्य–गुण–पर्याय का नाम स्वरूप अस्तित्व है अथवा द्रव्य–गुण–पर्याय की एक इकाई का नाम स्वरूप अस्तित्व है। जिनके द्रव्य, क्षेत्र, काल एक हों, किंतु स्वभाव भेद हो, उनमें अतद् भाव होता है। अत्यंताभाव दो द्रव्यों के बीच में होता है। अत्यंताभाव में द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव सभी भिन्न होते हैं।

अवांतरसत्ता मात्र अपने तक ही सीमित है। सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् पर्याय, सत् उत्पाद, सत् व्यय, सत् ध्रौव्य – इसप्रकार का भेद अवांतरसत्ता के अंतर्गत आता है।

रहती है, होती है। वस्तु भूतकाल में थी, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगी। इसे ही त्रिकाल 'सत्' कहा जाता है अर्थात् वस्तु 'है', 'है'और 'है'। तीनों कालों में वस्तु उपस्थित रहती है। वस्तु के भूतकाल में होने को वर्तमान की अपेक्षा 'था' कहा जाता है और भविष्य में होने को 'होगा' कहा जाता है। इसप्रकार 'था' और 'होगा' तो कहने के भेद हैं; वस्तु तो तीनों कालों में होती है, होती है, होती है।अतः वस्तु का सदाकाल अस्तित्व रहता है।

वस्तु के वर्तमान में होने को 'उत्पाद' कहा जाता है। विद्यमान पर्याय के नष्ट होने को 'व्यय' कहा जाता है और उत्पाद–व्यय जिस वस्तु में हुआ है, वह सदा विद्यमान रहने से 'ध्रुव' कहा जाता है।

इसप्रकार प्रत्येक **वस्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक** होती है। जैसा कि तत्वार्थसूत्र में कहा भी है–उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्तम् सत्।

सत् उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य से युक्त होता है।वस्तु का, द्रव्य का ध्रुवपना उसके सामान्यरूप को बताता है और उत्पाद–व्ययपना विशेष रूप को।

द्रव्य का सामान्य रूप ध्रुवपना उसके कायमरूप को बतलाता है और विशेषरूप उत्पाद–व्ययपना उसकी वर्तमान अवस्था में रहना बतलाता है।

विशेषरूप वर्तमान अवस्था आबाल–गोपाल सभी को प्रत्यक्ष होती है; अतः इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। विशेष है तो सामान्य तो होगा ही; क्योंकि सामान्य के बिना विशेष की सत्ता सम्भव नहीं। जैसे– जो मम्मी है वो नियम से स्त्री है; क्योंकि स्त्रीत्व के बिना मम्मीपना सम्भव नहीं।

आत्मा अपने उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य में है और पुद्गल अपने उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य में। कोई एक दूसरे की वजह से नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य अपने परिवर्तन में पूर्ण स्वतंत्र है, अपनी सत्ता में पूर्ण स्वतंत्र है। उनका उत्पाद स्वतंत्र, व्यय स्वतंत्र, ध्रुवपना स्वतंत्र। कुछ भी एक दूसरे के कारण नहीं। अतः प्रत्येक द्रव्य की वर्तमान एक समय की पर्याय भी स्वयं के कारण है, पर के कारण नहीं। प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन में पूर्ण स्वतंत्र है, उसे किसी की भी अपेक्षा नहीं।

इस गाथा में अस्तित्व के पर्यायवाची सत्ता द्वारा द्रव्य के अस्तित्व को ही सिद्ध किया जा रहा है।

उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य युक्त सत् द्रव्य का लक्षण है; क्योंकि उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य युक्त परिणाम द्रव्य का स्वभाव है; अतः द्रव्य स्वयं उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक है। इसलिए प्रस्तुत गाथा में सत्ता को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक कहा गया है। इसी अपेक्षा से सत्ता को त्रिलक्षण स्वरूप वाली कहा जाता है।

जैन मतानुसार द्रव्य के दो भेद हैं– सामान्य और विशेष, अतः उनके अनुसार विश्व में जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे न केवल सामान्यात्मक ही होती हैं, न विशेषात्मक ही, किन्तु वे उभयात्मक होती हैं। इसलिए सत्ता का स्वरूप अन्वय रूप से विचार करने पर जैसा प्रतीत होता है, व्यतिरेक रूप से विचार करने पर स्थिति ठीक उससे उल्टी होती है।

यह सामान्य–विशेषरूप सत्ता, महासत्ता तथा अवांतरसत्ता[3] रूप होने से,

1. सत्ता भी है और असत्ता भी है,
2. त्रिलक्षणा भी है और अत्रिलक्षणा भी है,
3. एक भी है और अनेक भी है,

4. सर्व पदार्थ स्थित भी है और एक पदार्थ स्थित भी है,

5. सविश्वरूप भी है और एकरूप भी है,

6. अनंत पर्यायमय भी है और एक पर्यायमय भी है।

1. महासत्ता अवांतरसत्ता रूप से असत्ता है और अवांतरसत्ता महासत्ता रूप से असत्ता है; इसलिए यदि महासत्ता को सत्ता कहें तो अवांतरसत्ता को असत्ता कहा जाएगा और जब अवांतरसत्ता को सत्ता कहा जाता है, तब महा सत्ता को असत्ता कहा जाएगा।

2. महासत्ता उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – ऐसे तीन लक्षण वाली है; इसलिए वह त्रिलक्षणा है। वस्तु में उत्पन्न होने वाले स्वरूप का उत्पाद ही एक लक्षण है, नष्ट होने वाले स्वरूप का व्यय ही एक लक्षण है और ध्रुव रहने वाले स्वरूप का ध्रौव्य ही एक लक्षण है; इसलिए उन तीन स्वरूपों में से प्रत्येक की अवांतरसत्ता एक ही लक्षण वाली होने से अत्रिलक्षणा है।

3. महासत्ता समस्त पदार्थ समूह में 'सत्, सत्, सत्' ऐसा समानपना दर्शाती है; इसलिए एक है। एक वस्तु की स्वरूपसत्ता अन्य किसी वस्तु की स्वरूपसत्ता नहीं है; इसलिए जितनी वस्तुएँ हैं, उतनी स्वरूपसत्ताएँ हैं, अतः ऐसी स्वरूपसत्ताएँ (अवांतरसत्ताएँ) अनेक हैं।

4. सर्व पदार्थ सत् हैं इसलिए महासत्ता सर्व पदार्थों में स्थित है। व्यक्तिगत पदार्थों में स्थित भिन्न-भिन्न व्यक्तिगत सत्ताओं द्वारा ही पदार्थों का भिन्न-भिन्न निश्चित व्यक्तित्व रह सकता है; इसलिए उस-उस पदार्थ की अवांतरसत्ता उस-उस एक पदार्थ में ही स्थित है।

5. महासत्ता समस्त वस्तु समूह के स्वभावों सहित है; इसलिए वह सविश्वरूप (सर्वरूपवाली) है। वस्तु की सत्ता का (कथंचित्) एक रूप हो, तभी उस वस्तु का निश्चित एक स्वभाव रह सकता है; इसलिए प्रत्येक वस्तु की अवांतरसत्ता निश्चित एक रूप वाली ही है।

6. महासत्ता सर्वपर्यायों में स्थित है; इसलिए वह अनंतपर्यायमय है। भिन्न–भिन्न पर्यायों में भिन्न–भिन्न सत्ताएँ हों तभी प्रत्येक पर्याय भिन्न–भिन्न रहकर अनंत पर्यायें सिद्ध होंगी, नहीं तो पर्याय का अनंतपना ही नहीं रहेगा, एकपना हो जाएगा; इसलिए प्रत्येक पर्याय की अवांतरसत्ता उस–उस एक पर्यायमय ही है।

यहाँ सामान्य से महासत्ता और विशेष से अवांतरसत्ता ली गई है। ये दोनों परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा प्रतिपक्ष रूप हैं; अतः इनमें से जब जिसकी प्रधान रूप से विवक्षा रहती है, तब उसका सद्भाव माना जाता है। वस्तुतः ये दो नहीं हैं, किन्तु विवक्षाभेद से ही दो मानी जाती हैं; इसलिए जब जिसकी प्रधानता रहती है, तब उसी की अपेक्षा से अस्तित्वरूप व्यवहार किया जाता है, अन्य की अपेक्षा से नहीं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि सत्ता सप्रतिपक्ष है अर्थात् प्रतिपक्ष सहित है। सत्ता का प्रतिपक्ष असत्ता है। त्रिलक्षण सत्ता का प्रतिपक्ष अत्रिलक्षण है। एकपने का प्रतिपक्ष अनेकपना है। सर्वपदार्थ स्थितपने का प्रतिपक्ष एक पदार्थ स्थितपना है। सविश्वरूपपने का प्रतिपक्ष एकरूपपना है और अनंत पर्यायपने का प्रतिपक्ष एक पर्यायपना है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सत्ता महासत्ता की अपेक्षा एक है, सर्वपदार्थ स्थित है, सविश्वरूप है और अनंत पर्यायात्मक है।

एक – महासत्ता त्रिलक्षण वाले समस्त वस्तुओं के सादृश्य को सूचित करती है तथा सब पदार्थों में अन्वयरूप में पाई जाती है; अतः सत्ता एक है।

सर्वपदार्थस्थित – विश्व की समस्त वस्तुएँ त्रिलक्षण स्वभाव सहित रहती हैं। ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो सत् स्वरूप न हो; इसलिए महासत्ता सर्वपदार्थस्थित है।

सविश्वरूप – विश्व की समस्त वस्तुएँ त्रिलक्षण स्वभाव द्वारा नाना पदार्थों में व्याप्त होकर रहती हैं; इसलिए महासत्ता सविश्वरूप (अनेकरूप) है।

अनंतपर्यायात्मक – विश्व की समस्त वस्तुएँ अनंत द्रव्य-पर्यायों में व्याप्त रहती हैं। अनंत पर्यायों का आधार हैं; इसलिए महासत्ता अनंतपर्यायात्मक है।

चूँकि इस गाथा का उद्देश्य सभी पदार्थों में सामान्य अस्तित्व को सिद्ध करना है, अतः इसमें एक, सर्वपदार्थस्थित, सविश्वरूप, अनंतपर्यायमय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक – ये पाँच विशेषण महासत्ता की अपेक्षा दिए गए हैं व सप्रतिपक्ष कहकर अवांतर सत्ता की ओर भी इशारा कर दिया गया है।

इसप्रकार इस गाथा में प्रसंग प्राप्त सत्ता के उन विशेषणों की चर्चा अत्यंत संक्षेप में की गई है, जिनसे द्रव्यों की सत्ता सिद्ध की जा सके।

इस ग्रंथ में सत्ता की मुख्यता से कथन है, तो टीकाकारों ने सत्ता के दो भेद महासत्ता व अवांतर सत्ता के रूप में किए हैं और प्रवचनसार में जहाँ सत्ता के पर्यायवाची अस्तित्व की दृष्टि से कथन किया गया है; वहाँ अस्तित्व के सादृष्य अस्तित्व और स्वरूप अस्तित्व रूप से भेद किए गए हैं। दोनों में विशेष कोई भेद नहीं है, लगभग दोनों का स्वरूप समान ही है।

प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने सत्ता के स्वरूप व भेद-प्रभेद आदि की विस्तृत जानकारी के लिए स्वतंत्र 'सत्ता पाहुड' लिखा होगा अथवा इस ग्रंथ के साथ-साथ ही लिख रहे होंगे।

विषयवस्तु के विभाजन में उनकी यह शैली अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होती है। जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं।

इसके पश्चात् गाथा 9 में सत्ता व द्रव्य में अनन्यपना सिद्ध किया जा रहा है।

●

गाथा–9

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो।।9।।

पदविच्छेद :– सब्भाव–पज्जयाइं।

शब्दार्थ :– दवियदि = द्रवित होता है, **गच्छदि** = प्राप्त होते हैं, **ताइं ताइं** = उन–उन, **सब्भाव** = सद् भाव, **पज्जयाइं** = पर्यायों को, **जं** = जो, **दवियं** = द्रव्य, **तं** = उसे, **भण्णंते** = कहते हैं, **अणण्णभूदं** = अनन्यभूत, **सत्तादो** = सत्ता से।

संदर्भ :– इस गाथा में द्रव्य का स्वरूप व द्रव्य का सत्ता से संबंध बताते हुए कहा गया है कि–

अर्थ :– उन–उन सद्भाव पर्यायों रूप जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं; जो कि सत्ता से अनन्य है।

व्याख्या :– इस गाथा में द्रव्य शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ व सत्ता व द्रव्य का अभेद बताया जा रहा है।

जो सद्भाव रूप सहवर्ती व क्रमवर्ती पर्यायों से द्रवित हो, प्राप्त हो; उसे द्रव्य कहते हैं। जिनकी सत्ता, जिनका सद्भाव द्रव्य में तीनों काल सदा विद्यमान रहता है – ऐसी सहभावी पर्यायें (गुण) और जिनका सद्भाव द्रव्य में एक–के–बाद एक क्रम से होता है, ऐसी क्रमभावी पर्यायों से युक्त पदार्थ ही द्रव्य कहलाता है।

क्रमभावी पर्यायें दो प्रकार की होती हैं– स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। इस गाथा में स्वभाव पर्याय के लिए 'दवियदि' का प्रयोग किया गया है और विभाव पर्याय के लिए 'गच्छदि' का। इन दो भिन्न–भिन्न क्रियाओं द्वारा आचार्यदेव कह रहे हैं कि स्वभाव

पर्याय अंदर में है, वह अंदर से ही प्रकट होती है, द्रवित होती है और जीव कर्म के निमित्त से विभाव पर्याय (विकारी पर्याय) को प्राप्त करता है।

उक्त गुण-पर्याय वाला द्रव्य अपनी सत्ता से भिन्न नहीं है, अतः सत्ता व द्रव्य में अभिन्नपना है। सत्ता व द्रव्य अभिन्न होने से आठवीं गाथा में जितने विशेषण सत्ता के लिए दिए गए हैं, वे सभी द्रव्य पर भी लागू पड़ते हैं।

सत्ता भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाली है और द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाला है। सत्ता भी गुण-पर्यायमय है और द्रव्य भी गुण-पर्याय सहित है।

इसके पश्चात् 10वीं गाथा में उक्त तीनों अपेक्षाओं से ही द्रव्य का स्वरूप बताया जा रहा है।

●

दुःखों से मुक्ति का उपाय

– आचार्य कुंदकुंद के साहित्य में

संसार के सभी प्राणी दुःखी हैं। दुःखों से बचना चाहते हैं; किन्तु सही मार्ग न मिलने से चारों गतियों में जन्म-मरण सहित अनेक दुःखों को भोगते ही रहते हैं। कभी-कभी, किसी-किसी को कुछ ख़ुशी के पल महसूस भी होते हैं; किन्तु अंत में वे दुःखदायी ही सिद्ध हो जाते हैं।

आचार्य कुंदकुंद को सही मार्ग मिला। वे स्वयं उस रास्ते पर चले। उन्होंने स्वयं उस आनंद की प्राप्ति की। वह आनंद कैसे प्राप्त किया जा सकता है? यह बताना ही उनके साहित्य का मुख्य उद्देश्य रहा है।

उनके साहित्य का सार एक वाक्य में कहें तो अपने में अपनेपन की अनुभूति (फीलिंग) से ही आनंद का आरंभ होता है और अपने में अपनेपन की वह अनुभूति लगातार बने रहने पर आनंद पूर्णता को प्राप्त होता है। दुःखों से सदा के लिए मुक्ति हो जाती है।

(To be continued on page no. 61)

गाथा–10

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू।।10।।

पदविच्छेद :– उप्पाद–व्वय–धुवत्त–संजुत्तं, गुण–पज्जय+आसयं, सत्+लक्खणियं।

शब्दार्थ :– दव्वं = द्रव्य, **सल्लक्खणियं** = सत् लक्षणवाला है, **उप्पाद** = उत्पाद, **व्वय** = व्यय, **धुवत्त** = ध्रुव, **संजुत्तं** = संयुक्त है, **वा** = और, **जं** = जो, **तं** = उसे, **गुण** = गुण का, **पज्जय** = पर्याय का, **आसयं** = आश्रय है, **भण्णंति** = कहते हैं, **सव्वण्हू** = सर्वज्ञ।

संदर्भ :– इस गाथा में द्रव्य का स्वरूप और उसकी विशेषता बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि–

अर्थ :– जो सत् लक्षणवाला है, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य संयुक्त है और जो गुण–पर्यायों का आश्रयभूत है, उसे सर्वज्ञ देव द्रव्य कहते हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में द्रव्य का स्वरूप, उसकी विशेषता और उस विशेषता का आधार बताया गया है। गाथा–8 में जिस सत्ता का स्वरूप बताया गया है, गाथा–9 में जिससे अनन्य कहा गया है, वही सत्ता, सत् द्रव्य का लक्षण है अर्थात् 'है' वह द्रव्य का लक्षण है। 'है' वह पदार्थ से एकमेक है, भिन्न नहीं। जैसे आत्मा का 'होनापना' उससे अभिन्न है और पर का 'होनापना' उससे अभिन्न है। अपना होनापना से शरीर का होनापना नहीं और शरीर के होनापना से अपना होनापना नहीं। शरीर व आत्मा दोनों भिन्न–भिन्न पदार्थ हैं। किसी के कारण किसी की अस्ति, मौजूदगी है नहीं। अपने कारण से प्रत्येक पदार्थ की मौजूदगी अस्ति है। ऐसा निर्णय करे तो पर की अस्ति मैं कर सकता हूँ – ऐसा विपरीत भ्रम छूट जाए।[1]

टिप्पणी–1. पंचास्तिकाय संग्रह प्रकाश, भाग–1, पृष्ठ–342

यहाँ विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि सत्तापना, होनापना, सत् अथवा 'है' - यह एक गुण है और वस्तु सत् मात्र स्वरूप ही नहीं है। वस्तु में तो अनंत धर्म हैं, अनंत गुण हैं। सत्ता एक गुण स्वरूप है और वस्तु में अनंत गुण हैं। अनंत स्वभाव वाला द्रव्य लक्ष्य है और सत्ता नाम का गुण लक्षण है। सत्ता द्रव्य से अभिन्न है, अनन्य है।

सत् द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होता है अर्थात् जिसमें उत्पत्ति हो, नाश हो और ध्रुवता भी बनी रहे, उसे द्रव्य कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में नई अवस्था उत्पन्न होती है, पुरानी अवस्था व्यय होती है और अपनी जाति को नहीं छोड़ना ही उसका ध्रुवपना है। जैसे सोने की बिस्किट पर्याय का व्यय होना, हार पर्याय का उत्पन्न होना और सोने का पीलापन, चिकनापन आदि गुणों का ध्रुव रहना। इसीप्रकार आत्मा की भी ज्ञान-दर्शन आदि की पूर्व पर्यायों का व्यय होना, नई-नई पर्यायों का उत्पन्न होना और अपनी जाति को नहीं छोड़ना ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना है। यद्यपि आत्मा में नई-नई पर्याय होती हैं, परन्तु आत्मा मिटकर जड़ नहीं होता और जड़ मिटकर चेतन नहीं होता। इसप्रकार सभी द्रव्यों में अपनी-अपनी जाति रखकर नई अवस्था का उत्पन्न होना, पुरानी अवस्था का व्यय होना और अपनी जाति को नहीं छोड़ना- इसी का नाम उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना है।

यहाँ विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि नई पर्याय पुरानी पर्याय में से नहीं आती, पर्याय तो द्रव्य में से आती है। प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक परमाणु अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप ही हैं। वह द्रव्य से अभिन्न है। पर का आत्मा और पर का परमाणु उसके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है।

प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एकसाथ, एकसमय में हैं।

उत्पाद पहले समय में हो और व्यय दूसरे समय में हो अथवा व्यय पहले समय में हो और उत्पाद दूसरे समय में हो – ऐसा नहीं होता; अपितु तीनों एक समय में युगपद् प्रवर्तते हैं।

जो गुण और पर्यायों का आश्रय हो, उसे द्रव्य कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य अनंत गुण स्वरूप है, अनंत धर्म स्वरूप है। आत्मा में भी अनंत गुण व धर्म हैं और प्रत्येक परमाणु में भी अनंत गुण और धर्म हैं। इसीप्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और काल में भी हैं। प्रत्येक वस्तु में, द्रव्य में गुण एक साथ रहते हैं व पर्यायें क्रम से एक के बाद एक होती हैं। द्रव्य में गुण ध्रुव रहते हैं, सदा कायम रहते हैं और पर्यायें बदलती रहती हैं। यह कायम रहना, बदलना सब द्रव्यों में स्वयं से, अपने में ही होता है, पर के कारण नहीं। जैसे इस शरीर में अवस्था विशेष आत्मा के कारण नहीं और आत्मा की अवस्था विशेष शरीर के कारण नहीं।

इसप्रकार द्रव्य के तीन लक्षण इस गाथा में बताए गए हैं– सत्, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य संयुक्त और गुण पर्यायों के आश्रय से – ये तीनों लक्षण परस्पर अविनाभावी हैं। जहाँ एक हो वहाँ तीनों होते ही हैं।

सत् स्वरूप द्रव्य में गुण–पर्याय सदा विद्यमान रहते हैं। इन उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य व गुण–पर्यायों की द्रव्य में क्या स्थिति है, क्या रोल है – यही गाथा 11 में बताया जा रहा है।

●

अपने में अपनेपन की अनुभूति के लिए अपना सही स्वरूप जानना आवश्यक है। अपना सही स्वरूप अर्थात् आत्मा का वास्तविक स्वरूप।

इस दुनिया में दो प्रकार के पदार्थ हैं– दिखने वाले और नहीं दिखने वाले।

(To be continued on page no. 63)

गाथा–11

उप्पत्ति य विणासो दव्वस य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया।।11।।

पदविच्छेद :– विगम + उप्पाद – धुवत्तं

शब्दार्थ :– उप्पत्ति = उत्पत्ति (उत्पाद), **विणासो** = विनाश, **णत्थि** = नहीं है, **अत्थि** = है, **सब्भावो** = सद्भाव, **विगम** = विनाश, **उप्पाद** = उत्पाद, **धुवत्तं** = ध्रुवता, **करेंति** = करता है, **तस्सेव** = उसी की, **पज्जाया** = पर्यायें।

संदर्भ :– इस गाथा में द्रव्य–गुण–पर्याय की पृथक्ता बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि–

अर्थ :– द्रव्य का कभी उत्पाद या विनाश नहीं होता, सदा सद्भाव ही रहता है। विनाश, उत्पाद व ध्रुवता तो उसकी पर्यायें ही धारण करती हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में द्रव्य की विशेषता बतायी जा रही है।

हमारे मन में अनेक सवाल उठते हैं कि द्रव्य में उत्पाद करने वाला कौन? व्यय करने वाला कौन? ध्रुवता किससे? उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य किसके आश्रय से होते हैं? आदि। इन्हीं शंकाओं का समाधान प्रस्तुत गाथा में नयों के माध्यम से, अपेक्षा से किया जा रहा है।

द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु सत् स्वभाव वाली है। अनादि–अनंत है। अनादि–अनंत द्रव्य के उत्पाद और व्यय नहीं है; उसका सद्भाव है, अस्तित्व है।

पर्यायार्थिकनय से पर्याय की अपेक्षा वस्तु उत्पाद–विनाश वाली है। जैसे सोने में एक हार पर्याय का व्यय, दूसरी अंगूठी पर्याय का उत्पाद तथा उत्पत्ति व विनाश दोनों ही पर्यायों में स्वर्णत्व की ध्रुवता विद्यमान रहती है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि स्वभाव वस्तु के कारण से और उत्पाद–व्यय पर्याय के कारण से– यह वस्तु का निर्दोष स्वभाव है। प्रत्येक वस्तु अपने–अपने उत्पाद–व्यय से अभेद है और पर से भेद रूप है। आत्मा का उत्पाद–व्यय आत्मा में और परमाणु का उत्पाद–व्यय परमाणु में।

पर्यायें दो प्रकार की हैं – क्रमभावी पर्याय व सहभावी पर्याय।

इनमें से क्रमभावी पर्याय से उत्पाद–विनाश होता है और सहभावी पर्याय (गुण) से वस्तु ध्रुव रहती है।

इसके पश्चात् 12वीं गाथा में द्रव्य व पर्यायों का अभेदपना बताया जा रहा है।

●

आँखों से दिखने वाले पदार्थों की, वस्तुओं की सत्ता से कोई इनकार नहीं कर सकता। यदि कोई करेगा भी तो वह स्वयं ही गलत सिद्ध हो जाएगा; किन्तु नहीं दिखने वाले पदार्थों पर कुछ लोग प्रश्नचिह्न खड़ा कर देते हैं, शंका करने लगते हैं। ऐसे वस्तुओं व पदार्थों को तर्क, युक्ति द्वारा सिद्ध करना होता है। जैसे– हवा को हम देख नहीं सकते; पर स्पर्श द्वारा उसकी अनुभूति होती है, आम की मिठास को भी देख नहीं पाते, पर चखकर फील कर लेते हैं। इसीप्रकार खुशबू–बदबू को भी देखा नहीं जा सकता, पर उसे भी नाक द्वारा अनुभव किया जा सकता है।

इसप्रकार स्पर्श, रूप, रस, गंध से जिन–जिन वस्तुओं को जाना जा सकता है, उसका एक नाम पुद्गल है। पुद्गल को हम छूकर, चखकर, सूँघकर और देखकर जान सकते हैं; किंतु आत्मा इन चारों का विषय नहीं है। उसे न तो छू सकते हैं, न चख सकते हैं, न सुन सकते हैं, और न देख सकते हैं।

(To be continued on page no. 65)

गाथा–12

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूवेंति।।12।।

पदविच्छेद :– पज्जय–विजुदं, दव्व–विजुत्ता।

शब्दार्थ :– पज्जय = पर्यायों से, **विजुदं** = रहित, **दव्वं** = द्रव्य, **य** = और, **विजुत्ता** = रहित, **पज्जया** = पर्यायें, **णत्थि** = नहीं होती, **दोण्हं** = दोनों का, **अणण्णभूदं भावं** = अनन्यपना, **समणा** = श्रमण, **परूवेंति** = प्ररूपित करते हैं।

संदर्भ :– इस गाथा में द्रव्य और पर्यायों का अनन्यपना बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि –

अर्थ :– सर्वज्ञ भगवान ने कहा है कि पर्यायों से रहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्यायें नहीं होती। दोनों अनन्य हैं, अभिन्न हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में द्रव्य और पर्यायों का अभिन्नपना बताया है। जगत के सभी पदार्थों में अपनी–अपनी पर्याय के बिना द्रव्य नहीं और अपने द्रव्य के बिना पर्याय नहीं। ऐसा नहीं है कि पर द्रव्य बिना मेरी पर्याय नहीं। जीव द्रव्य अनादि का और जीव की पर्यायें भी अनादि की। इसीप्रकार पुद्गलादि सभी द्रव्य अनादि के और उनकी पर्यायें भी अनादि की।

पर्याय अर्थात् अवस्था। अवस्था के बिना कोई द्रव्य नहीं होता। द्रव्य के बिना अवस्था किसकी? द्रव्य उत्पन्न नहीं होता, पर पर्याय उत्पन्न होती है; इसीप्रकार पर्यायें नष्ट भी होती हैं, पर द्रव्य नष्ट नहीं होता। अतः भेद दृष्टि से विचार करें तो द्रव्य और पर्याय में कथंचित् भेद है, किन्तु वे दोनों एक अस्तित्व में नियत रूप से रहने के कारण एक दूसरे के आश्रय से रहते हैं।

द्रव्य पर्याय के आश्रय से और पर्याय द्रव्य के आश्रय से। इसप्रकार दोनों एक दूसरे के आधार से टिकते हैं। 'अस्ति' दोनों में समान रूप से विद्यमान होने से वस्तु रूप से उनका अभेद है अर्थात् प्रत्येक वस्तु की पर्याय और वस्तु में अभेदता है, अनन्यता है।

चूँकि कुछ पर्यायें दिखती हैं, अतः पहले पर्यायों का अभेद दिखलाया गया है। अब आगे 13वीं गाथा में द्रव्य और गुणों का अभेद बताया जा रहा है।

●

अब प्रश्न उठता है कि हम कैसे मानें कि वह है, आत्मा है? हमारे पास तो जानने के यही साधन हैं। इसप्रकार दिखाई न देने के कारण कुछ लोग आत्मा की सत्ता से ही इंकार करने लगते हैं। जो आत्मा की सत्ता ही नहीं मानते; वे उसकी अनुभूति कैसे कर पाएंगे? उन्हें उसमें अपनापन कैसे होगा? अतः आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथ पंचास्तिकाय संग्रह में सर्वप्रथम आत्मा की सत्ता सिद्ध की है। इसकी विशेष जानकारी के लिए लेखिका की कृति 'सत्तासिद्धि' देखें।

इस दुनिया में हमें दो प्रकार की वस्तुएँ नजर आती हैं– अजीव और सजीव। जिन वस्तुओं में जीव न भूतकाल में था, न वर्तमान में है और न भविष्य में होगा; वे वस्तुएँ अजीव कहलाती हैं। जैसे– प्लास्टिक।

जिस पुद्गलमय शरीर में जीव होता है, उसे सजीव कहते हैं। जैसे हमारे तुम्हारे सभी के शरीर, सभी जीव-जंतु, कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी सजीव ही हैं। विशेष इतना कि जिस सजीव में से जीव निकल जाता है, उसे निर्जीव कहते हैं। जैसे– शव, मुर्दा। अजीव, सजीव, निर्जीव – ये सभी भेद जीव की अपेक्षा किए गए हैं।

जिसप्रकार पुद्गल एक द्रव्य है, उसीप्रकार जीव भी एक द्रव्य है। जिसप्रकार पुद्गल के रूप, रस, गंध, वर्ण, स्पर्श गुण हैं; उसीप्रकार जीव के ज्ञान, दर्शन आदि गुण हैं। ज्ञान गुण जीव का मुख्य गुण है, जिससे जानने का कार्य होता है। उसकी पहचान का चिन्ह भी यही है।

(To be continued on page no. 67)

गाथा–13

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वंगुणाणं हवदि तम्हा।।13।।

पदविच्छेद :– दव्वं–गुणाणं ।

शब्दार्थ :– दव्वेण = द्रव्य के, **विणा** = बिना, **ण** = नहीं, **गुणै**: = गुणों के, **संभवदि** = संभव होना, **अव्वदिरित्तो भावो** = अव्यतिरिक्त भाव (अभिन्नपना), **गुणाणं** = गुणों का, **हवदि** = है, **तम्हा** = इसलिए।

संदर्भ :– इस गाथा में द्रव्य और गुणों का अनन्यपना बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि –

अर्थ :– द्रव्य के बिना गुण नहीं होते और गुणों के बिना द्रव्य भी नहीं होते; इसलिए द्रव्य और गुणों में अभिन्नपना है, अभेदपना है।

व्याख्या :– इस गाथा में द्रव्य और गुणों का अनन्यपना बताया गया है। प्रत्येक वस्तु गुण बिना नहीं होती और गुण द्रव्य बिना नहीं होते। यद्यपि गुणों व द्रव्यों में कथंचित् भेद है; तथापि वे एक अस्तित्व में नियत होने के कारण अन्योन्यवृत्ति नहीं छोड़ते। उन दोनों का अस्तित्व एक, सत्ता एक, आधार एक, आश्रय एक। इसके कारण द्रव्य और गुण क्षेत्र से अभेद है; प्रदेश भेद नहीं है उनमें अर्थात् आत्मा और उसके अनंत गुण इन दोनों का अस्तित्व एक है, अभेद है।

संक्षेप में कहें तो 12वीं व 13वीं गाथा में प्रत्येक द्रव्य को अपने–अपने गुण–पर्यायों से अभिन्न और एक–दूसरे के गुण–पर्यायों से अत्यंत भिन्न बताया गया है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि इन दो गाथाओं में प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण–पर्यायों की पूर्ण स्वतंत्रता की बात कही गई है। जीव के गुण–पर्याय जीव में जीव के ही कारण हैं, पर का उनमें रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं और पर में, अन्य द्रव्यों में परिणमन उनकी पर्यायों के कारण। परमात्मा भी उनमें परिवर्तन कर सकता नहीं। जैसे–पुद्गल के गुण रूप, रस, गंध, स्पर्श और आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आनंद आदि अनंत गुण। पुद्गल की पर्यायें पुद्गल में, आत्मा की पर्यायें आत्मा में। दोनों अपने–अपने गुण–पर्यायों से अनन्य। रूप, रस आदि पुद्गल में, आत्मा में नहीं; आनंद आत्मा में, पुद्गल में नहीं।

इससे हमें पता चलता है कि आनंद आत्मा में ही मिलेगा, पर पुद्गल में नहीं।अतः हमें उसकी खोज अपने में ही करना है, पर में नहीं। हमारा आनंद हमारे ही आधीन है, पर के नहीं; पर में नहीं, पर से नहीं। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य में 'अस्ति' भी है, 'नास्ति' भी है, अस्तित्व भी है, नास्तित्व भी है। प्रत्येक द्रव्य में इन परस्पर विरोधी धर्मों की अपेक्षा क्या है? उनके वचन की विधि क्या है? यही विधि गाथा 14 में बतायी जा रही है।

●

सजीव शरीर रूप पुद्गल में नाक, कान, आँख आदि से जो सूँघने, सुनने, देखने का कार्य हो रहा है, वह जीव का कार्य है। जीव की पहचान का चिन्ह है। इससे ही जीव की सत्ता भी सिद्ध हो रही है; क्योंकि जब वह जीव उस शरीर से निकल जाता है, तब निर्जीव शरीर की पाँचों इन्द्रियाँ छूने, चखने, सूँघने, देखने व सुनने का कार्य नहीं करती हैं।

इसी जीव को कोई एनर्जी कहता है, तो कोई पुरुष, तो कोई आत्मा। इसप्रकार आत्मा को न मानने वाले भी एनर्जी रूप में उसे स्वीकार करते ही हैं; क्योंकि दिखाई न देने पर भी ज्ञान की फीलिंग सभी को होती ही है, उनकी सत्ता से इंकार करना तो अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारने जैसा कार्य है। 'आत्मा नहीं है' कहने का तात्पर्य है कि 'मैं नहीं हूँ'– आप ही बताइये! इस बात को आपमें से कौन स्वीकार करेगा? मानेगा?

(To be continued on page no. 71)

गाथा–14

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि।।14।।

पदविच्छेद :– तत् + तिदयं।

शब्दार्थ :– सिय = स्यात्, **अत्थि** = अस्ति, **णत्थि** = नास्ति, **उहयं** = दोनों (स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति), **अव्वत्तव्वं** = अवक्तव्य, **पुणो य** = और, **तत्** = उन, **तिदयं** = तीनों वाला (स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य और स्यात् अस्ति–नास्ति अवक्तव्य), **दव्वं** = द्रव्य, **खु** = वास्तव में, **सप्तभंग** = सप्त भंग वाला, **आदेसवसेण** = आदेशवश (कथन की अपेक्षा), **संभवदि** = संभव होता है।

संदर्भ :– इस गाथा में द्रव्यों के कथन करने की पद्धति बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि–

अर्थ :– द्रव्य कथन की अपेक्षा से वास्तव में स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् दोनों रूप और स्यात् अवक्तव्य रूप है तथा स्यात् अवक्तव्यता युक्त तीन भंग वाला होकर कुल सात भंग संभव होते हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में प्रत्येक वस्तु के कहने की अपेक्षा समझाने वाले सप्त भंग का कथन किया गया है, अतः यह गाथा 'सप्तभंगी' के स्वरूप को बताने वाली गाथा है। यह सप्त भंग जैनदर्शन की अनुपम विशेषता है, जो अन्यत्र कहीं, किसी भी धर्म में, दर्शन में नहीं मिलते हैं।

आचार्यदेव अभी तक की 13 गाथाओं में वस्तु का, द्रव्य का अस्तित्व धर्म सिद्ध करते आ रहे हैं, और अब इस गाथा में वे बता

रहे हैं कि अनंत धर्मात्मक वस्तु का मात्र अस्तित्व ही एक धर्म नहीं है। अस्तित्व के समान नास्तित्व धर्म भी उसमें है। जिसप्रकार 'स्व' की अपेक्षा उसमें अस्ति है, उसीप्रकार 'पर' की अपेक्षा उसमें 'नास्ति' है। इसप्रकार वस्तु में अस्ति–नास्ति दोनों धर्म विद्यमान हैं; किन्तु इन दोनों धर्मों को एक साथ नहीं कह सकते हैं, अतः वस्तु अवक्तव्य भी है। वस्तुतः तो वस्तु है भी, नहीं भी है और है भी व नहीं भी। संपूर्ण वस्तु के बारे में एक साथ कुछ कह नहीं सकते। वस्तु है और एकसाथ कह नहीं सकते। वस्तु नहीं है और एकसाथ कह नहीं सकते। वस्तु है भी, नहीं भी है और एक साथ कह भी नहीं सकते।

उक्त सभी धर्म वस्तु में कथंचित् हैं, कथंचित् नहीं। जैसे वस्तु स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा नहीं है। दोनों को साथ कहने पर वस्तु है भी व नहीं भी।

स्यात् शब्द के प्रयोग के साथ सप्तभंग निम्नप्रकार होंगे– स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति–नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति–नास्ति अवक्तव्य।

सप्तभंगी में 'स्यात्' शब्द सर्वथापने का निषेधक (निषेध करनेवाला) है, अनेकांत का प्रकाशक है और अपेक्षा का द्योतक है। यहाँ विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि 'स्यात्' शब्द संशयवाची नहीं, अपितु सापेक्ष निर्णय की दृढ़ता का प्रतीक है।

सप्तभंगी के बारे में विस्तार से जानने के इच्छुक पाठक लेखिका कि अन्य कृति 'अनुपम खोज' का अवलोकन करें ।

संक्षेप में कहें तो इस गाथा में कहा जा रहा है कि द्रव्य की स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव की अपेक्षा सत्ता है, अस्ति है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, व परभाव की अपेक्षा सत्ता नहीं है, नास्ति है।

इसके पश्चात् 15वीं गाथा में बताया जा रहा है कि द्रव्य का द्रव्यरूप से विनाश नहीं होता और द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप से उत्पाद नहीं होता है।

●

गाथा–15

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति।।15।।

पदविच्छेद :– गुण–पज्जएसु, च+एव, उप्पाद– वए ।

शब्दार्थ :– भावस्स = जिनका भाव है, **सत्ता है** – ऐसे जो सत् स्वरूप द्रव्य का, **णत्थि** = नहीं है, **णासो** = नाश, **अभावस्स** = अभाव का, **च** = और, **एव** = ही, **उप्पादो** = उत्पाद, **पज्जएसु** = पर्यायों में, **वए** = व्यय, **पकुव्वंति** = करते हैं।

संदर्भ :– इस गाथा में द्रव्य के अस्तित्व की दृढ़ता से स्थापना करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि–

अर्थ :– जिनका भाव है, सत्ता है ऐसे सत् द्रव्य का नाश नहीं होता और असत् (अभाव) का उत्पाद नहीं होता। सत् द्रव्य (भाव) गुण–पर्यायों में उत्पाद–व्यय करते हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में द्रव्यों के अस्तित्व की अनादि–अनन्तता सिद्ध करते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि – विद्यमान अस्ति वाले पदार्थ का द्रव्यरूप (सत् रूप) से विनाश नहीं होता और असत् (अभाव) का अन्य द्रव्य का नया उत्पाद नहीं होता अर्थात् वस्तु के सत् पने का कभी नाश नहीं और असत् पने का कभी उत्पाद नहीं, अद्रव्य का उत्पाद नहीं। अतः सभी द्रव्य, वस्तुएँ, पदार्थ अनादि से हैं, अनंत काल तक रहेंगे।

इस पर कोई कह सकता है कि उक्त कथन तो प्रत्यक्ष विरुद्ध लगता है, क्योंकि पदार्थों का उत्पाद–विनाश होते हुए तो हम देखते हैं। जैसे लकड़ी का व्यय होकर कोयला बन जाता है, फिर कोयले का भी नाश होकर राख उत्पन्न हो जाती है।

उक्त शंकाओं का समाधान ही इस गाथा की अगली पंक्ति में किया गया है। आचार्यदेव कहते हैं कि द्रव्यों में द्रव्यपना कायम रह कर गुणों में उत्पाद–व्यय होता है, इसलिए उत्पाद–व्यय दोनों में द्रव्य विद्यमान रहता है। द्रव्य में विद्यमान गुणों में होने वाले परिवर्तन को ही पर्याय कहते हैं। उत्पाद–व्यय गुणों में ही होता है। द्रव्यों के गुणों में पूर्व पर्याय का व्यय होकर नवीन पर्याय का उत्पाद होता है। ध्यान रखने की बात यह है कि द्रव्य में वही पर्याय नवीन उत्पन्न होती है, जिसके उत्पन्न होने की सामर्थ्य द्रव्य में विद्यमान होती है। जो शक्ति रूप में द्रव्य में विद्यमान नहीं, वह कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। जैसे– दही दूध से ही बनेगा, पानी से नहीं।

इस गाथा में कहे गए 'भाव' का अर्थ क्या है? द्रव्य में गुण–पर्याय उत्पाद–व्यय कैसे करते हैं? आदि शंकाओं का समाधान ही आगामी 16वीं गाथा में किया जा रहा है।

●

नहीं न! कोई मानेगा तो भी वही गलत सिद्ध हो जाएगा। इस जीव की, आत्मा की दो मूल अवस्थाएँ होती है– अशुद्ध व शुद्ध।

जिसप्रकार खदान से हीरा अथवा सोना अपनी–अपनी तरह की गंदगी के साथ ही निकलता है। उनकी अशुद्धि को उनके अपने–अपने तरीके से शुद्ध (प्योर) किया जाता है; उसीप्रकार जीव भी अनादि से मोह, राग, द्वेष आदि की अशुद्धि के साथ ही है। उस अशुद्धि को उसके तरीके से शुद्ध किया जाता है।

जीव की अशुद्धि क्या है? उसे किस तरह से शुद्ध किया जा सकता है– यही आचार्य कुंदकुंद के ग्रंथों का मूल कथन है।

शुद्ध आत्मा मात्र जानने का कार्य करता है। वह जानने के अलावा कुछ कर सकता नहीं और जानने के लिए उसे किसी के सहयोग की जरूरत नहीं; किंतु अशुद्ध अवस्था में वह परतंत्र रहता है। पर पदार्थों को जानने के लिए उसे इंद्रियों के सहयोग की जरूरत पड़ती है।

(To be continued on page no. 73)

गाथा–16

भावा जीवादीया जीवगुणा चेदणा य उवओगा।
सुरणरणारयतिरिया जीवस्स य पज्जया बहुगा।।16।।

पदविच्छेद :– सुर–णर–णारय–तिरिया ।

शब्दार्थ :– भावा = द्रव्य, **जीवादीया** = जीव आदि अर्थात् पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल, **जीवगुणा** = जीव के गुण, **चेदणा** = चेतना (ज्ञान–दर्शन), **य** = और, **उवओगा** = उपयोग, **सुर** = देव, **णर** = मनुष्य, **णारय** = नारकी, **तिरिया** = तिर्यंच (पशु–पक्षी, कीड़े–मकौड़े आदि सभी), **जीवस्स** = जीव की, **पज्जया** = पर्यायें, **बहुगा** = अनेक हैं।

संदर्भ :– इस गाथा में जीव के उदाहरण द्वारा द्रव्य–गुण–पर्याय के स्वरूप को समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि–

अर्थ :– जीव आदि छहों द्रव्य भाव हैं। चेतना व उपयोग जीव के गुण हैं तथा देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंच रूप अनेक पर्यायें जीव की होती हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में कहा जा रहा है कि जिनकी सत्ता है– ऐसे भाव स्वरूप द्रव्य छः हैं– जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन छह द्रव्यों के गुण और पर्यायें होती हैं। जैसे– जीव का गुण चेतना अर्थात् ज्ञान–दर्शन है। इसे चैतन्य भी कहा जाता है।

चैतन्य का अनुसरण करने वाला परिणाम उपयोग कहलाता है। इसप्रकार चेतन द्रव्य है, चैतन्य गुण है और उपयोग पर्याय है।[1]

1. पंचास्तिकाय संग्रह प्रकाश, भाग–1, पृष्ठ–472

उपयोग पर्याय चैतन्य गुण के अवलंबन से उत्पन्न होती है, पर के कारण नहीं। यहाँ विशेष बात ध्यान देने की यह है कि यद्यपि उपयोग चैतन्य गुण का परिणमन होने के कारण पर्याय रूप है; तथापि यहाँ उसे 'गुण' ही कहा है। इसप्रकार चेतन द्रव्य के चैतन्य और उपयोग – दो गुणों की चर्चा इस गाथा की प्रथम पंक्ति में की गई है और दूसरी पंक्ति में परद्रव्य के संबंध से उत्पन्न होने वाली अशुद्ध पर्यायों की चर्चा की गई है। मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यंच – ये चार विभाव रूप अशुद्ध पर्यायें हैं।

उक्त प्रकार से अनेक पर्यायों रूप परिणमित होने पर भी जीव द्रव्य में सत् का विनाश व असत् का उत्पाद नहीं होता– इसी बात को 17वीं गाथा में गतियों के उदाहरण द्वारा समझाया जा रहा है।

●

आचार्य कुंदकुंद के अनुसार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच पदार्थ हैं। इनकी सत्ता है और ये बहुप्रदेशी हैं, अतः इन्हें पाँच अस्तिकाय कहते हैं।

जीव व पुद्गल के गमन में उदासीन निमित्त धर्म अस्तिकाय है, स्थिति में उदासीन निमित्त अधर्म अस्तिकाय है, और अवगाहन में निमित्त आकाश अस्तिकाय है।

जिसप्रकार कोई भी ट्रेन, प्लेन, टैक्सी, कार आदि वाहन किसी को बाहर जाने के लिए जबरदस्ती नहीं करते, पर यदि कोई बाहर लंबी दूरी के लिए जाता है तो जाने में उदासीन निमित्त होते हैं। उसीप्रकार धर्म, अधर्म, आकाश आदि जीव पुद्गल को गमन, स्थिति आदि के लिए जबरदस्ती नहीं करते। पर जो स्वयं गमन आदि करते हैं उनके लिए यह उदासीन निमित्त बनते हैं।

(To be continued on page no. 76)

गाथा–17

मणुसत्तणेण णट्ठो देही देवो व हवेदि इदरो वा।
उभयत्थ जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो ।।17।।

शब्दार्थ :– मणुसत्तणेण = मनुष्य से, **णट्ठो** = नष्ट हुआ, **देही** = शरीर धारण करने वाला जीव, **हवेदि** = होता है, **इदरो** = अन्य, **वा** = अथवा, **उभयत्थ** = उन दोनों में, **णस्सदि** = नष्ट होता है, **जायदे** = उत्पन्न होना, **अण्णो** = अन्य (दूसरा)।

संदर्भ :– जीव द्रव्य की पर्यायें उत्पन्न–नष्ट होने पर भी जीव भाव नष्ट नहीं होता – इसे उदाहरण द्वारा समझाते हुए आचार्यदेव इस गाथा में कहते हैं कि –

अर्थ :– मनुष्यत्व से नष्ट हुआ (मरण कर) जीव देव अथवा अन्य (नारकी, तिर्यंच) होता है; उन दोनों पर्यायों में जीवभाव नष्ट नहीं होता और दूसरा जीवभाव उत्पन्न नहीं होता।

व्याख्या :– इस गाथा में कहा जा रहा है – प्रत्येक द्रव्य में पर्यायें उत्पन्न व नष्ट होने पर भी द्रव्य नष्ट नहीं होता और न ही द्रव्यत्व नया उत्पन्न होता है। जैसे – जब यदि कोई जीव मनुष्य गति से मर कर देवगति में जन्म लेता है, तब मनुष्य की समाप्ति पर जीवत्व समाप्त नहीं होता और इसीप्रकार देवत्व की उत्पत्ति पर जीवत्व उत्पन्न भी नहीं होता।

संक्षेप में कहें तो द्रव्यों में उत्पाद–व्यय होने पर भी सत् का नाश नहीं होता और असत् का उत्पाद नहीं होता। नया उत्पन्न नहीं होने और विनष्ट नहीं होने की व उत्पाद–व्यय की अपेक्षा ही गाथा 18 में बतायी जा रही है।

●

गाथा–18

सो चेव जादि मरणं जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो।
उप्पण्णो य विणट्ठो देवो मणुसोत्ति पज्जाओ।।18।।

पदविच्छेद :– च + एव।

शब्दार्थ :– सो = वह, **एव** = ही, **जादि** = जन्म लेता है, **मरणं** = मृत्यु को, **ण** = नहीं, **णट्ठो** = नष्ट, **उप्पण्णो** = उत्पन्न, **विणट्ठो** = विनष्ट, **मणुसो** = मनुष्य, **त्ति** = ऐसी, **पज्जाओ** = पर्याय।

संदर्भ :– इस गाथा में द्रव्य का अनुत्पन्नपना व अविनष्टपना सिद्ध करते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि –

अर्थ :– वह ही जन्म लेता है और वह ही मरता है; तथापि वह उत्पन्न नहीं होता और नष्ट भी नहीं होता, देव व मनुष्य ऐसी पर्याय उत्पन्न होती है और नष्ट होती है।

व्याख्या :– इस गाथा में कहा जा रहा है कि यद्यपि द्रव्य कथंचित् उत्पाद वाला व कथंचित् व्यय वाला है; तथापि वह सदैव अविनष्ट और अनुत्पन्न भी है। जैसे जीव द्रव्य मनुष्य पर्याय के वियोग से व देव पर्याय के संयोग से यद्यपि उत्पन्न व विनष्ट होता हुआ नज़र आता है; परंतु यदि द्रव्य की दृष्टि से देखें तो द्रव्य का कभी उत्पाद या विनाश नहीं होता। जिसप्रकार सोने की हार पर्याय का व्यय व कुंडल पर्याय के उत्पाद होने पर सोनेपने का उत्पाद या व्यय नहीं होता; सोना, सोना ही रहता है। उसके गुण उसकी दोनों पर्यायों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं; अतः सोने की पर्याय बदलने पर भी सोनापना अनुत्पन्न व अविनष्ट है, उसीप्रकार सभी

द्रव्यों की पर्यायों में परिवर्तन होने पर, उत्पाद-व्यय होने पर भी नवीन द्रव्य का, नवीन गुण का उत्पाद-व्यय नहीं होता, द्रव्य में द्रव्यपना सदैव कायम रहता है।

इसप्रकार इस गाथा में जीव द्रव्य के उदाहरण द्वारा छहों द्रव्यों के द्रव्यरूप से नित्यपने और पर्यायरूप से अनित्यपने का वर्णन कर वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप का अस्तित्व सिद्ध किया जा रहा है।

इसके पश्चात् 19वीं गाथा में ध्रुव स्वभाव की अपेक्षा द्रव्यों का स्वरूप बताया जा रहा है।

●

उक्त जीव आदि पाँचों अस्तिकायों के परिवर्तन में निमित्त काल है। काल की अस्ति तो है, सत्ता तो है; किंतु वह बहुप्रदेशी नहीं, एक प्रदेशी है। अतः वह अस्तिकाय में शामिल नहीं है।

काल को मिलाने पर पाँच अस्तिकायों को ही छह द्रव्य कहा जाता है। द्रव्य, गुण और पर्याय वाला होता है।

छहों द्रव्यों के अपने-अपने गुण होते हैं, पर्यायें होती हैं जो कि उनसे अनन्य ही होती हैं। गुणों द्वारा द्रव्य ध्रुव रहता है और पर्यायें निरंतर उत्पन्न व विनाश को प्राप्त होती रहती हैं। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य ध्रुव रहकर भी पलटता रहता है और नित्य पलटकर भी ध्रुव रहता है।

जब जीव की दृष्टि से कथन किया जाता है तब इन छहों द्रव्यों को दो भागों में विभक्त कर देते हैं- जीव और अजीव। अजीव में धर्म, अधर्म, आकाश व काल पाँचों द्रव्य सम्मिलित हो जाते हैं।

संसारी अवस्था में जीव राग, द्वेष, मोह आदि भाव करता है, जिससे उसे कर्मों का आश्रव, बंध होता है। जो जीव दया, दान आदि के शुभ भाव करता है, उसे पुण्य का आश्रव व पुण्य का बंध होता है और जो जीव हिंसादि अशुभ भाव करता है, उसे पाप का आस्रव व पाप का बंध होता है।

(To be continued on page no. 79)

गाथा–19

एवं सदो विणासो असदो भावस्स णत्थि उप्पादो।
तावदिओ जीवाणं देवो मणुसोत्ति गदिणामो।।19।।

शब्दार्थ :– सदो = सत् का, **विणासो** = विनाश, **असदो** = असत् का, **णत्थि** = नहीं है, **उप्पादो** = उत्पाद, **तावदिओ** = उतने ही काल का, **मणुसोत्ति** = मनुष्य, **गतिणामो** = गति नामकर्म।

संदर्भ :– इस गाथा में गति नामकर्म के उदाहरण द्वारा जीव की ध्रुवता–अध्रुवता की स्थापना करते हुए आचार्य देव कहते हैं कि–

अर्थ :– इसप्रकार जीव के सत् का विनाश और असत् का उत्पाद नहीं होता है। जीवों के देव, मनुष्य – ऐसा गति नाम कर्म उतने ही काल का होता है।

व्याख्या :– इस गाथा की प्रथम पंक्ति में ध्रुव स्वभाव की अपेक्षा कहा गया है कि सत् का विनाश और असत् का उत्पाद नहीं होता और द्वितीय पंक्ति में पर्याय की अपेक्षा कहा है कि देव जन्मता है व मनुष्य मरता है। विशेष इतना कि गति नामकर्म द्वारा जीव की चारों गतियों में से किसी एक गति में रहने का काल निश्चित होता है। जिस गति में जीव की जितनी आयु बँधी होती है, जीव उतने ही काल उस गति में रहता है। इस मर्यादित काल की मनुष्य पर्याय या देव पर्याय में आत्मा नामकर्म के निमित्त से अपनी स्वयं की उपादानगत योग्यता से रहता है।

जीव की मनुष्य, देवादि गतियाँ एक साथ नहीं होती, वे क्रमशः एक के बाद एक होती हैं और जीव द्रव्य उनमें सदा विद्यमान रहता है।

अब प्रश्न उठता है कि जीव का गतियों में भ्रमण कब तक होता रहेगा? इसी शंका का समाधान आगामी 20वीं गाथा में किया जा रहा है।

●

गाथा–20

णाणावरणादीया भावा जीवेण सुट्ठु अणुबद्धा।
तेसिमभावं किच्चा अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो।।20।।

पदविच्छेद :– तेसिम् + अभावं।

शब्दार्थ :– णाणावरणादीया = ज्ञानावरणादि, **जीवेण** = जीव के साथ, **सुट्ठु** = भली भाँति, **अणुबद्धा** = अनुबद्ध हैं (बँधे हुए हैं), **तेसिम्** = उनका, **अभावं** = अभाव, **किच्चा** = कर के, **अभूदपुव्वो** = अभूतपूर्व, **हवदि** = होता है, **सिद्धो** = सिद्ध।

संदर्भ :– इस गाथा में गति के अभाव की प्रक्रिया पूर्वक प्राप्त होने वाले पद को बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि –

अर्थ :– ज्ञानावरणादि भाव जीव के साथ भलीभाँति अनुबद्ध हैं। उनका अभाव करके जीव अभूतपूर्व सिद्ध होता है।

व्याख्या :– इस गाथा में अविकारी पर्याय में भी अत्यंत असत्–उत्पाद का निषेध किया गया है। यद्यपि पर्याय दृष्टि से विचार करें तो सिद्धत्व पर्याय नई उत्पन्न हुई है; किन्तु यदि वस्तु दृष्टि से विचार करें तो जो शुद्धता अंदर विद्यमान थी, वही सिद्ध दशा में प्रगट हुई है; क्योंकि सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता।

19वीं गाथा में कहा गया था कि गति नाम कर्म यह निश्चित करता है कि जीव किस गति में कितने समय तक रहेगा।

इस गाथा में उसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है कि सभी संसारी जीवों के ज्ञानावरणादि आठ कर्म अनादि काल से अच्छे से (भलीभाँति) बँधे हुए हैं। जीव की संसारी पर्याय रूप विकारी दशा में आठ कर्म ही निमित्त हैं। जब जीव राग–द्वेषादि

भाव करता है, तब जीव को आठ कर्म बंधते हैं तथा जब जीव ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा का आश्रय करके, मोह–राग–द्वेष रहित होता हुआ ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का अभाव करता है; तब वह पूर्व में कभी प्राप्त नहीं हुई – ऐसी अभूतपूर्व सिद्ध दशा को प्राप्त करता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि – संसारी अवस्था में, विकारी अवस्था में जीव जब चारों गति में नई–नई पर्यायें धारण करता है, तब भी उसे असत् का उत्पाद व सत् का नाश नहीं होता है और जब वह कर्म मुक्त अवस्था, पूर्ण शुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है; तब भी उसे सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं है तो क्या कथंचित् सत् का नाश व असत् का उत्पाद हो सकता है? इसी शंका का समाधान 21वीं गाथा में किया गया है। •

जब जीव शुद्ध आत्मा में लीन होता है, तब कर्मों का आना बंद होता है। कर्मों के न आने को संवर कहते हैं और शुद्ध आत्मा में निरंतर वृद्धि से ही बंधे हुए कर्मों के झरने (नष्ट होने) को निर्जरा कहते हैं।

लगातार अंतर्मुहूर्त तक शुद्ध–आत्मा में लीन होने पर बंधे हुए संपूर्ण कर्मों के नाश को मोक्ष कहते हैं।

पुण्य–पाप को आस्रव–बंध में शामिल कर कथन करने पर उक्त तत्त्वों को सात तत्त्व कहा जाता है। सात तत्त्व निम्न हैं– जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

उक्त सातों में पुण्य–पाप को शामिल न कर पृथक् कथन करने पर उन्हें नव पदार्थ कहा जाता है। वे नौ (नव) पदार्थ निम्न हैं– जीव, अजीव, आस्रव, बंध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

(To be continued on page no. 84)

गाथा–21

एवं भावमभावं भावाभावं अभावभावं च।
गुणपज्जयेहिं सहिदो संसरमाणो कुणदि जीवो।।21।।

पदविच्छेद :– भावम् + अभावं, गुण – पज्जयेहिं।

शब्दार्थ :– एवम् = इसप्रकार, **सहिदो** = सहित, **पज्जयेहिं** = पर्यायों, **संसरमाणो** = संसरण करता हुआ, **कुणदि** = करता है।

संदर्भ :– इस गाथा में जीव के उत्पाद–व्यय, भाव, अभाव आदि विरोधी रूपों को बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि–

अर्थ – इसप्रकार जीव गुण–पर्यायों सहित संसरण करता हुआ भावरूप, अभावरूप, भावाभाव रूप, अभावभाव रूप परिणमन करता है।

व्याख्या :– गाथा 15 में कहा गया था कि द्रव्य में भाव का नाश नहीं होता और अभाव का उत्पाद नहीं होता। उत्पाद और व्यय तो गुण–पर्यायें करते हैं। इसके पश्चात् 16 से 20 तक की पाँच गाथाओं में जीव द्रव्य के उदाहरण द्वारा उक्त कथन की विस्तार से सिद्धि की गई है। अब इस 21वीं गाथा में कहा जा रहा है कि गुण–पर्यायों सहित संसरण करता हुआ जीव भाव (सत् विनाश), अभाव (असत् उत्पाद), भाव–अभाव और अभाव–भाव करता है। यदि अपेक्षा बिना देखते हैं तो उक्त दोनों कथन परस्पर विरोधी से लगते हैं, किन्तु अपेक्षा से विचार करें तो उसमें कोई विरोध नहीं है। वस्तु में विद्यमान ऐसे परस्पर विरोधाभास का समाधान जैनदर्शन की वस्तु व्यवस्था अनेकांत और कथन व्यवस्था स्याद्वाद में मिलता है। जिसकी चर्चा आचार्यदेव ने 14वीं गाथा में की थी।

पूर्व गाथाओं में किए गए कथन द्रव्यदृष्टि से किये गये कथन हैं। द्रव्यदृष्टि से विचार करते हैं तो द्रव्य सदा ध्रुव रहता है। उसका उत्पाद या व्यय नहीं होता। उत्पाद-व्यय गुण-पर्यायें करते हैं और यदि पर्याय अपेक्षा विचार करते हैं तो उत्पाद-व्यय द्रव्य में ही होते हैं। इसी बात की पुष्टि इस गाथा में जीव द्रव्य के उदाहरण द्वारा की जा रही है। जैसे- जीव ही देवादि पर्याय रूप से उत्पन्न होता है,जो कि पूर्व में विद्यमान नहीं थी; अतः असत् का उत्पाद हुआ और जीव ही मनुष्यादि पर्याय रूप से मृत्यु को प्राप्त करता है, अतः सत् का विनाश भी हुआ।

विशेष बात यह है कि इस गाथा में जीव को भाव, अभाव, भाव-अभाव और अभाव-भाव का कर्ता कहा गया है। जैसे - जब कोई जीव देवादि पर्याय रूप से उत्पन्न होता है,तब उस जीव को भाव (उत्पाद) का कर्ता कहा गया है, मनुष्यादि पर्याय रूप से नाश को प्राप्त होता है, अतः उसी को अभाव (व्यय) का कर्ता कहा गया है। विद्यमान् (सत्) देवादि पर्याय का नाश करता है; इसलिए उसी को भावाभाव (सत् के विनाश) का कर्ता कहा गया है और फिर से अविद्यमान (असत्) मनुष्यादि पर्याय का उत्पाद करता है, इसलिए उसी को अभाव-भाव (असत् के उत्पाद) का कर्ता कहा गया है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि जीव को जिस गति में जाना है, उसको उस 'भाव' का कर्तृत्व है। जिस पर्याय (गति) का नाश होता है, जीव को उसके अभाव का कर्तृत्व है। जो भाव है, उसका अभाव करने की आरंभ दशा भावाभाव का कर्तृत्व है और जो भाव नहीं है, उसका प्रारम्भ होना अभावभाव का कर्तृत्व है। इसप्रकार अपने गुण-पर्यायों सहित जीव संसरण करता हुआ भाव, अभाव, भावाभाव और अभावभाव को करता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 20वीं गाथा में **निमित्त की अपेक्षा** कथन करते हुए कहा था कि चारों गतियों में जीव की स्थिति उस–उस गति के नाम कर्म के अनुसार रहती है और अब इस 21वीं गाथा में **उपादान की अपेक्षा** कथन करते हुए कहा गया है कि जीव जिस–जिस गति में जाता है, उस–उस गति का पर्याय का कर्ता जीव ही है। स्वामीजी के शब्दों में कहें तो–'समय–समय की पर्याय का कर्ता तेरा द्रव्य है, कोई दूसरा कर्ता–धर्ता है नहीं। ईश्वर तो नहीं, परंतु कर्म भी तेरी पर्याय का कर्ता नहीं है'[1] जीव स्वयं से उस विकार के परिणाम और गति को करता है। पूर्व की गति का नाश और नयी गति का उत्पाद स्वयं अपने से करता है।[2]

संक्षेप में कह सकते हैं कि आचार्य कुंदकुंद ने इन गाथाओं में छहों द्रव्यों, उनमें विद्यमान गुण–पर्यायों और उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य के कर्तृत्व–अकर्तृत्व की अपेक्षा बतलायी है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि गाथा 3 से 21 तक की 19 गाथाओं में पाँच अस्तिकाय और छहद्रव्यों की सामान्य सत्ता सिद्ध की है।

आचार्यदेव ने जिसप्रकार आरंभ की गाथाओं में सर्वप्रथम पाँच अस्तिकायों का सामान्य कथन किया है, अब वे उसी क्रम में 22वीं गाथा में सर्व प्रथम पाँच अस्तिकायों का उपसंहार करते हैं।

●

संकल्प / विकल्प

बाह्य चेतन अचेतन मिश्र द्रव्यों में 'ये मेरे हैं' ऐसा ममत्व भाव संकल्प है तथा अंतरंग में 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि हर्ष–विषाद के परिणाम 'विकल्प' है।

– पंचत्थियसंगहं सुत्तं, गाथा 7 की जयसेन की टीका के आधार पर

---

1. पंचत्थियसंगहं सुत्तं, भाग–1, पृ.–549
2. पंचत्थियसंगहं सुत्तं, गाथा –21, पृ. 550

गाथा–22

जीवा पोग्गलकाया आयासं अत्थिकाइया सेसा।
अमया अत्थित्तमया कारणभूदा दु लोगस्स।।22।।

शब्दार्थ :– आयासं = आकाश, **अत्थिकाइया** = अस्तिकाय, **सेसा** = शेष, **अमया** = अकृत (बिना किये हुए), **अत्थित्तमया** = अस्तित्व रूप, **कारणभूदा** = कारण भूत, **लोगस्स** = लोक के।

संदर्भ :– इस गाथा में पाँच अस्तिकायों की विशेषता बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि –

अर्थ :– जीव, पुद्‌गलकाय, आकाश और शेष दो अस्तिकाय (धर्म और अधर्म) अकृत हैं, अस्तित्वमय हैं और वास्तव में लोक के कारणभूत हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में पाँच अस्तिकायों का उपसंहार करते हुए उनकी तीन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

ये पाँचों अस्तिकाय अकृत हैं, किसी के बनाए हुए नहीं हैं। उन्हें भूतकाल में किसी ने बनाया नहीं, वर्तमान में कोई बनाता नहीं और भविष्य में कोई बना सकता नहीं; क्योंकि वे स्वयं अपने से हैं, स्वभाव से स्वयं सिद्ध हैं, अस्तिकाय हैं।

इन पाँचों के अस्तित्व व लोक के कारणभूतपने की सिद्धि पूर्व में गाथा 4 व 5 में कर ही आये हैं।

कारणभूतपना अर्थात् छहों द्रव्यों की उपस्थिति या अनुपस्थिति के आधार पर ही आकाश के दो भेद होते हैं –

लोकाकाश और अलोकाकाश। इसप्रकार छहों द्रव्यों की उपस्थिति लोक का कारण है।

छहों द्रव्यों में से पाँच द्रव्यों की चर्चा पाँच अस्तिकाय के रूप में इस गाथा में हो ही गई है। अब आगामी 23वीं गाथा में काल द्रव्य की चर्चा करते हुए द्रव्यों के सामान्य सत्तासिद्धि का उपसंहार किया जा रहा है। ●

एक बार संपूर्ण कर्मों से मुक्ति मिलने पर जीव को पुनः कर्म बंधन नहीं होता है और आत्मा देह छोड़कर उर्ध्वगमन (ऊपर जाने) के स्वभाव के कारण लोक के अंत में सिद्ध शिला में सदा के लिए स्थिर हो जाता है, पुनः संसार में शरीर धारण नहीं करता है।

मुक्ति प्राप्ति का एक मात्र मार्ग रत्नत्रय ही है। रत्नत्रय से मुक्ति ही होती है, बंध नहीं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता को रत्नत्रय कहते हैं। यही मोक्षमार्ग है।

यही मोक्षमार्ग आचार्य कुंदकुंद के ग्रंथों का मूल प्रतिपाद्य रहा है; क्योंकि सभी संसारी प्राणियों को चारों गतियों के दुःखों से मुक्ति का उपाय बताना ही उनकी रचना का मूल उद्देश्य रहा है।

मोक्षमार्ग स्वरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए आत्मानुभूति आवश्यक है। आत्मानुभूति अर्थात् अपने में अपनेपन की अनुभूति। आत्मा के शुद्ध व अशुद्ध स्वरूप को जानकर अशुद्ध स्वरूप को दृष्टि से हटाकर,गौणकर शुद्ध स्वरूप में ही अपनेपन की अनुभूति आत्मानुभूति है।

शुद्ध आत्मा में जमने वाले, रमने वाले आचार्य कुंदकुंद शुद्ध आत्मा का ही चिंतन करते थे, ध्यान करते थे। ध्यान से बाहर निकलते तो शुद्धात्मा की ही चर्चा करते। उनकी दृष्टि में एकमात्र शुद्धात्मा ही ज्ञेय है,ध्येय है, उपादेय है, शेष सब हेय है।

जिस शुद्धात्मा को उन्होंने पाया था, जिसमें वे निरंतर लीन रहने का प्रयास करते थे। ऐसे पर से भिन्न, स्वयं से अभिन्न शुद्ध-आत्मा का सही एवं पुर्ण ज्ञान कराना ही उनके प्रतिपादन का मूल उद्देश्य था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए तत्संबंधित अनेक विषय उनके ग्रंथों में समाविष्ट हुए हैं।

यद्यपि उनकी सभी रचनायें इस उद्देश्य की पूर्ति करती हैं; किंतु समयसार तो पूर्णरूपेण शुद्ध-आत्मा के स्वरूप बताने को ही समर्पित है। ●

गाथा–23

सब्भाव सभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च।
परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो।।23।।

पदविच्छेद :– सब्भाव – सभावाणं, परियट्टण – संभूदो।

शब्दार्थ :– सब्भाव = सद्भाव (सत्ता), **सभावाणं** = स्वभाव वाले, **जीवाणं** = जीवों के, **तह** = तथा, **य** = ही, **च** = और, **परियट्टण** = परिवर्तन से, **संभूदो** = होने वाले, **णियमेण** = नियम से, **पण्णत्तो** = कहा गया है।

संदर्भ :– इस गाथा में काल की उपस्थिति का कारण बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि –

अर्थ :– सर्वज्ञ भगवान द्वारा सत्ता स्वभाव वाले जीवों और पुद्गलों के परिवर्तन से सिद्ध होने वाले काल (द्रव्य) का नियम से कथन किया गया है।

व्याख्या :– यह गाथा भी उपसंहारात्मक गाथा है। इसमें कालद्रव्य की सत्ता की पुष्टि की जा रही है। इसमें भी वही तर्क दिया गया है जो गाथा 6 में दिया गया था अर्थात् इसमें जीव और पुद्गलों के परिवर्तन को ही काल की उपस्थिति का कारण बताया गया है; क्योंकि कालद्रव्य के निमित्त बिना किसी द्रव्य का परिणमन संभव नहीं।

जीव व पुद्गलों के परिणमन को सिद्ध करने के लिए इस गाथा में 'सब्भाव सभावाणं' हेतु दिया गया है अर्थात् सत्ता स्वभाव के कारण जीव व पुद्गलों में प्रतिसमय उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य रूप परिणमन होता है।

वह परिणमन सहकारी कारणरूप काल के सद्भाव में ही होता है। इसप्रकार व्यवहार काल जीव–पुद्गल की परिणति द्वारा सिद्ध होता है। इन दोनों में निमित्त–नैमित्तिक संबंध है। कालद्रव्य की परिणति निमित्त है और जीवादि पाँचों द्रव्यों के परिणमन नैमित्तिक हैं। यह पहले–पश्चात् नहीं, एक समय में हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त दो गाथाओं में पूर्व की 21 गाथाओं का सार समाहित हो गया है।

इसके पश्चात् 24वीं गाथा में कालद्रव्य का विशेष स्वरूप बताया जा रहा है। ●

26 गाथाओं की विषयवस्तु

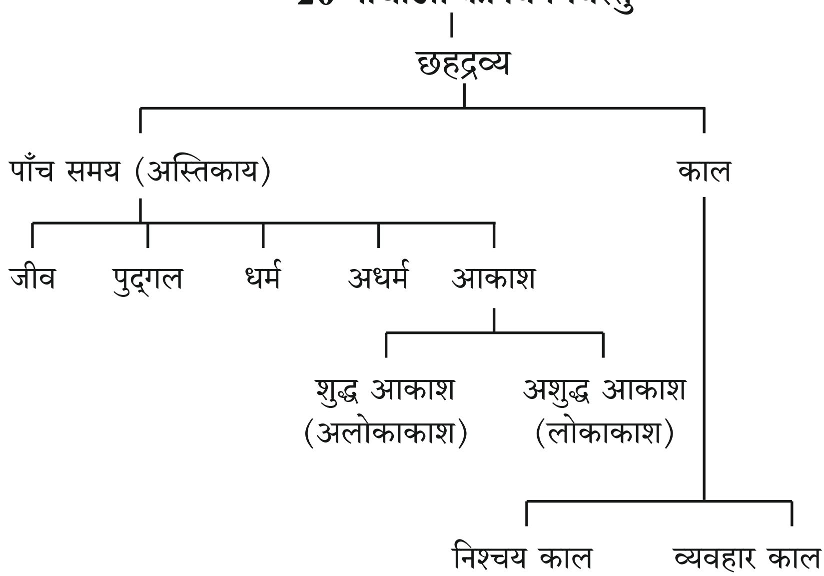

गाथा–24

ववगदपणवण्णरसो ववगददोअट्ठगंधफासो य।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालोत्ति।।24।।

पदविच्छेद :– ववगद – पण – वण्ण – रसो, ववगद – दो – अट्ठ – गंध – फासो।

शब्दार्थ :– ववगद = रहित, **पण** = पाँच, **वण्ण** = वर्ण, **रसो** = रस, **अट्ठ** = आठ, **फासो** = स्पर्श, **च** = और, **अगुरूलहुगो** = अगुरूलघु, **अमुत्तो** = अमूर्त्त, **वट्टणलक्खो** = वर्तना लक्षणवाला, **कालोत्ति** = काल।

संदर्भ :– इस गाथा में निश्चय काल का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि –

अर्थ :– काल पाँच वर्ण और पाँच रस रहित, दो गंध और आठ स्पर्श रहित, अगुरुलघु, अमूर्त्त और वर्तना लक्षण वाला है।

व्याख्या :– इस गाथा में काल का स्वरूप पॉज़िटिव व नेगेटिव दोनों रूप से बताया गया है। इसकी प्रथम पंक्ति में आचार्यदेव कह रहे हैं कि जिसप्रकार पुद्गल में रूप, रस, गंध व स्पर्श पाया जाता है, उसीप्रकार काल में यह सब नहीं पाया जाता है; क्योंकि कालद्रव्य अमूर्त्त है। उक्त लक्षण मूर्त्त द्रव्य में ही पाए जाते हैं। अमूर्त्त होने से कालद्रव्य सूक्ष्म है, अतीन्द्रिय ज्ञान से ही प्रत्यक्ष जानने में आता है।

कालद्रव्य का मुख्य लक्षण 'वर्तना' है, जो पर द्रव्यों के परिणमन में निमित्त है और अगुरुलघुगुण से युक्त है।

कालाणु के परिणमन में कालाणु स्वयं ही निमित्त हैं। यद्यपि

अलोकाकाश में कालाणु नहीं है, तथापि लोकाकाश में विद्यमान कालाणु ही अलोकाकाश के परिणमन में निमित्त होते हैं; क्योंकि अलोकाकाश व लोकाकाश एक अखंड आकाश द्रव्य है।

इसके पश्चात् 25वीं गाथा में व्यवहार काल का स्वरूप बताया जा रहा है।

•

दो शब्द

डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया द्वारा लिखित '**सत्तासिद्धि**' आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय ग्रन्थ की प्रारम्भिक 26 गाथाओं की टीका है। यह एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जो जैन तत्त्वचिंतन की गहन मीमांसा करता है। इस ग्रंथ में द्रव्य, गुण, पर्याय, लोक, छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आदि का विवेचन किया गया है। यह न केवल जैन दर्शन के अध्येताओं के लिए उपयोगी है, बल्कि अकादमिक रूप से अध्येताओं के लिए भी अद्वितीय ग्रंथ है।

इस ग्रंथ की लेखिका ने अत्यंत परिश्रमपूर्वक इसकी व्याख्या की है, जिससे इसकी गूढ़ता सहज रूप में पाठकों तक पहुँच सके। उनकी विद्वत्ता, शोध की गहराई और सरल भाषा-शैली इस पुस्तक की विशेषता है। लेखिका ने जिस समर्पण और गहन अध्ययन के साथ इस ग्रंथ को प्रस्तुत किया है, वह सराहनीय है।

लेखिका को मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ कि वे इसी प्रकार अपने ज्ञान और शोध से दर्शन-जगत को समृद्ध करती रहें।

डॉ. शुद्धात्मप्रकाश जैन

एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जैन अध्ययन केन्द्र,

के. जे. सोमैया इंस्टीट्युट ऑफ धर्मा स्टडीज,

सोमैया विद्याविहार विद्यापीठ, मुम्बई, महाराष्ट्र

गाथा–25

समओ णिमिसो कट्ठा कलाय णाली तदो दिवारत्ती।
मासोदु अयण संवच्छरोत्ति कालो परायत्तो।।25।।

पदविच्छेद :– दिवा – रत्ति, मासो + उदु – अयणं – संवच्छरोत्ति।

शब्दार्थ :– समओ = समय, **णिमिसो** = निमेष, **कट्ठा** = काष्ठा, **य** = और, **णाली** = घड़ी, **दिवा** = दिन, **रत्ति** = रात, **मासो** = माह, **उदु** = ऋतु (दो माह की एक ऋतु), **संवत्सर** = वर्ष (दो अयनों का एक वर्ष), **परयत्तो** = पराश्रित है।

संदर्भ :– इस गाथा में व्यवहार में प्रयुक्त कालों के नाम बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि –

अर्थ :– समय, निमेष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन, रात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष से पहचाना जाने वाला काल व्यवहार काल है, जो पराश्रित है। समय, निमेष, घड़ी, दिन आदि व्यवहार काल के माप हैं।

व्याख्या :– काल द्रव्य की एक समय की पर्याय ही व्यवहार काल है। व्यवहार काल का माप पर पदार्थों की अपेक्षा बिना निश्चित करना अशक्य होने से कथंचित् पराश्रित कहा जाता है। व्यवहार काल का माप परमाणु गमन, आँख का मिचना, सूर्य गमन आदि की अपेक्षा जाना जाता है। जैसे मंद गति से परिणमित एक परमाणु के एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश में गमन करने में लगने वाले काल को 'समय' कहते हैं। अतः परमाणु के गमन के आश्रित समय है। आँख मिचने के आश्रित निमेष है। निमेषों की निश्चित संख्या के आश्रित काष्ठा, कला और घड़ी होते

हैं। सूर्य के गमन के आश्रित दिन–रात होते हैं और दिन–रात की संख्या के आश्रित मास, ऋतु, अयन व वर्ष होते हैं।

जब असंख्यात समय व्यतीत होते हैं, तब एक निमेष होता है। यह आँख की पलक बंद होने के द्वारा व्यक्त होता है। पंद्रह निमेषों से एक काष्ठा, तीस काष्ठाओं द्वारा एक कला, कुछ अधिक बीस कलाओं से एक घड़ी, दो घड़ी से एक मुहूर्त, तीस मुहूर्तों से एक दिन–रात, तीस दिनों से एक माह, दो माह से एक ऋतु, तीन ऋतुओं से एक अयन, दो अयनों से एक वर्ष व्यक्त किया जाता है।

'इति' शब्द से पल्योपम, सागरोपम आदि रूप व्यवहार काल जानना चाहिये।

संक्षेप में कहें तो मूल द्रव्य निश्चय काल है; जो कि त्रिकाल है, मूलपदार्थ है, स्वाधीन है, पर की अपेक्षा रहित है और व्यवहार काल मर्यादा से गिनने में आता है, पराश्रित है।

इसप्रकार इस गाथा में काल के पराश्रितपने की सामान्य चर्चा की। इसके पश्चात् 26वीं गाथा में काल के पराश्रितपने को युक्ति से प्रमाणित किया जा रहा है।

•

आत्मानुभूति : एक सहज प्रक्रिया

अपने ज्ञान स्वरूप में ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान में आनंद की अनुभूति आत्मानुभूति है।

इसके लिए हमें कुछ करना नहीं पड़ता, यह सहज होती है। जब हमें अपने ज्ञान स्वरूप में आनंद की अनुभूति हो जाएगी, तब उसमें ही स्वपना, अपनापन होगा। जब अपने में अपनापन होगा, तब शरीर में, सभी पर पदार्थों में परपना सहज हो जावेगा, करना नहीं पड़ेगा।

जानना आत्मा का सहज स्वभाव है। सहज स्वभाव को जानते रहने पर अपनापन होना भी एक सहज प्रक्रिया है। ज्ञान सहज, जानना सहज, आनंद सहज, सब कुछ सहज! सहज!! सहज!!!

गाथा–26

णत्थि चिरं वा खिप्पं मत्तारहिदं तु सा वि खलु मत्ता।
पोग्गलदव्वेण विणा तम्हा कालो पडुच्चभवो।।26।।

पदविच्छेद :– मत्ता– रहिदं, पडुच्च – भवो।

शब्दार्थ :– णत्थि = नहीं है, **चिरं** = चिर (अधिक काल), **वा** = अथवा, **खिप्पं** = क्षिप्र (शीघ्र, कम समय, अल्पकाल), **मत्ता** = परिमाण (माप), **रहिदं** = बिना (रहित), **सा** = वह, **वि** = भी, **खलु** = निश्चय से, **विणा** = नहीं, **तम्हा** = इसलिए, **पडुच्चभवो** = आश्रित रूप से उपजने वाला है।

संदर्भ :– इस गाथा में व्यवहार काल के पराश्रितपने का कारण बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि –

अर्थ :– 'चिर' अथवा 'क्षिप्र' – ऐसा ज्ञान काल के माप के बिना नहीं होता और माप पुद्गल के अवलंबन के बिना संभव नहीं है; अतः व्यवहार काल पर के आश्रय से होता है।

व्याख्या :– इस गाथा में व्यवहार काल के पराश्रितपने को सिद्ध करते हुए कहा जा रहा है कि काल की मर्यादा बिना थोड़ा काल, बहुत काल, जल्दी–देर से आदि कथन नहीं किए जा सकते। अतः काल की मर्यादा का कथन करना आवश्यक है और उस काल की मर्यादा पुद्गल द्रव्य के बिना निश्चित नहीं होती अर्थात् परमाणु की मंद गति, सूर्य की चाल आदि जो पुद्गल के परिणाम हैं, उनसे काल की मर्यादा हो सकती है। इसलिए कहा जाता है कि व्यवहार काल पराश्रित है।

यद्यपि व्यवहार काल भी निश्चय काल की पर्याय होने से निश्चय से स्वाश्रित है अथवा निश्चय काल के आश्रित है; तथापि व्यवहार से व्यवहार काल को पराश्रित कहा जाता है।

यहाँ विशेष बात यह है कि समय रूप सूक्ष्म काल पर्याय रूप है; क्योंकि वह उत्पन्न और विनष्ट होता है। साथ ही समय आदि पर्यायें निश्चय कालद्रव्य बिना नहीं होती; अतः प्रत्येक कालाणु निश्चय कालद्रव्य है और समय आदि पर्यायें व्यवहार काल रूप हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि द्रव्यों के बिना लोक की सिद्धि नहीं होती, निश्चय कालद्रव्य बिना जीव-पुद्गल का परिणमन सिद्ध नहीं हो सकता और जीव-पुद्गल में नयी-पुरानी पर्याय रूप परिणाम बिना व्यवहार काल की सिद्धि नहीं होती।

अभी तक की 26 गाथाओं में पाँच अस्तिकाय और काल मिलाकर छह द्रव्यों की सामान्य सत्ता सिद्ध की गई है तथा प्रसंगवश सत्ता का स्वरूप और जीव, आकाश व काल का सामान्य स्वरूप भी बताया गया है। इसके पश्चात् 27 से 104 गाथा तक छहों द्रव्यों का विस्तार से विशेष वर्णन किया गया है। जिसमें 27 से 73 तक की 46 गाथाओं में जीव द्रव्य की विशेष सत्ता सिद्ध की गई है। जिसकी चर्चा सत्तासिद्धि भाग-2 में की जाएगी।

–●–

दीक्षा के बाद तीर्थंकर मौन क्यों?

जो स्वयं के सत्य स्वरूप को समझ लेते हैं, स्वीकारते हैं, अपनाते हैं, अनुभूति करते हैं; उन्हें समझने के लिए कुछ शेष नहीं रहता और जो वस्तु के स्वरूप को, सर्वज्ञ के स्वरूप को समझ लेते हैं, उन्हें समझाने का भाव भी नहीं उठता।

वाणी समझने-समझाने में उपयोगी होती है। जिन्हें समझने-समझाने का भाव नहीं; उन्हें बोलने का भी भाव नहीं होता और मौन उनके जीवन का अभिन्न अंग बन जाता है।

यही कारण है कि समझने-समझाने के भाव से रहित भावी तीर्थंकर दीक्षा लेते ही मौन हो जाते हैं।

क्या हम सुखी हैं?

इस प्रश्न पर कुछ जन कह सकते हैं कि हम खुश हैं, सुखी हैं; हमें कोई दुःख नहीं। न हमें दुःख है और न हम दुःखी हो सकते हैं। दुःख तो हमें छू भी नहीं सकता; क्योंकि हम संपन्न हैं, ऐश्वर्यवान हैं। अतः हम जो चाहते हैं, वह हमें मिलता है। हमारी हर इच्छा पूरी होती है, फिर हमें कैसा दुःख? हम तो सुखी हैं, पूर्ण सुखी अथवा कोई यह भी कह सकता है कि– हम संतोषी हैं। जो कुछ भी हमें मिला है हम उसी में खुश हो लेते हैं। खराब से खराब परिस्थिति में भी हम दुःख अनुभव नहीं करते, टेंशन में नहीं आते; उसी को अपना भाग्य मान खुश रहते हैं। हर परिस्थिति में खुश रहने वालों को दुःख छू भी नहीं सकता। बस, हमारी तो भगवान से यही इच्छा है, यही प्रार्थना है कि – जीवन में आने वाले उतार–चढ़ावों से हम घबराएँ नहीं, हर परिस्थिति में खुश रहें। पैसा तो हाथ का मैल है, आता–जाता रहता है। उसके जाने से क्या दुःखी होना? मुझे अधिक कुछ चाहिए भी नहीं, बस रहने को एक छत हो, पहनने को दो कपड़े और खाने को तीन रोटी। हम तो मस्त मौला हैं, कुछ जोड़ कर नहीं रखते। खाओ, पियो और मौज करो पर भरोसा करते हैं और दुःख को दूर से ही सलाम करते हैं।

इसप्रकार सोच–सोच कर अपने आप को सुखी मानने वाले बहुत से लोग मिल जाएँगे। पर उन्हें इस बात का भान (इल्म) नहीं है कि खुशी और संतुष्टि सुख का पर्याय नहीं है। जो प्रार्थना व इच्छा करते हुए भी अपने को सुखी मानते हैं, वे वस्तुतः न सुख का स्वरूप समझते हैं और न दुःख का। अतः हम पहले इसी पर विचार करते हैं कि वस्तुतः दुःख क्या है?

आकुलता ही दुःख है। आकुलता इच्छा होने पर होती है।

चाह, कामना, वांछा अनेक नाम हैं इस इच्छा के। यह हमारे दुःखों का मूल कारण है। इच्छाओं का कोई अंत नहीं है। अनंत इच्छाएँ होती हैं हमारे मन में। हमारा मन तो इच्छाओं का भंडार ही है। एक बार कुबेर का खजाना भले ही खत्म हो जाए, पर इच्छाएँ! नहीं, वे कभी समाप्त नहीं होती। हो भी कैसे? वे तो नयी–नयी उत्पन्न होती रहती हैं। एक इच्छा पूरी होती है, तो दूसरी उसी क्षण उत्पन्न हो जाती है। यही नहीं, हमारा मन तो एक इच्छा के पूरे होने का इंतजार भी नहीं करता, वह तो उसके पूरे होने के पूर्व ही दूसरी इच्छा कर लेता है– इसप्रकार कभी समाप्त न होने वाला इच्छाओं का सिलसिला चलता ही रहता है। हम यह अच्छी तरह जानते ही हैं कि हमारी सभी इच्छाओं की पूर्ति कभी संभव नहीं ।

वस्तुतः तो इच्छाओं की पूर्ति में सुख है ही नहीं। यदि मान भी लिया जाए कि इच्छा पूरी होने पर हम सुखी होते हैं, तो क्या हमारी सभी इच्छाएँ पूरी होती हैं या हो सकती हैं? क्या इच्छा पूरी होने पर भी हम दुःखी नहीं होते हैं? होते हैं, अवश्य होते हैं। जैसे हमारी चाट या आइसक्रीम खाने की इच्छा हुई। वो इच्छा पूरी भी हुई, पर साथ में बीमारी के रूप में दुःख दे गयी। क्या सच्चा सुख, दुःख का कारण हो सकता है? नहीं, कभी नहीं।

जब से हमारे मन में इच्छा होती है, तब से ही हम व्याकुल हो जाते हैं और जब तक इच्छा पूर्ण नहीं होती, तब तक आकुलता बनी रहती है। कदाचित् कोई इच्छा पूर्ण हो जाए तो तत्काल दूसरी इच्छा उत्पन्न होकर दुःखी करती रहती है। जैसे हमें कभी किसी का भला करने की इच्छा होती है, तो कभी बुरा करने की। कभी हम किसी को नीचा दिखाना चाहते हैं और अपने को महान। अपने शारीरिक कष्टों को दूर करने की और देखने–जानने की इच्छा तो हम सभी को हमेशा रहती ही है। एक साथ अनेक कार्य करने की इच्छा और अपनी सभी इच्छाओं की पूर्ति की इच्छा किसे नहीं होती?

इन्हीं सभी इच्छाओं में कुछ इच्छाएँ पूरी होने पर हम अपने को सुखी मानते हैं, वस्तुतः वह सुख नहीं सुखाभास है।

संक्षेप में कहें तो हम हमेशा किसी न किसी इच्छा से घिरे रहते हैं। इच्छा आकुलता रूप है और आकुलता ही दुःख है, अतः वस्तुतः तो हम दुःखी ही हैं? दुःख दूर कैसे हो? यह एक अलग विषय है, जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर आए हैं। फिलहाल अभी हम विचार करते हैं कि दुःखी कौन है? दुःखी कौन?

दुःख! दुःख!! दुःख!!! एक शाश्वत सांसारिक सत्य। तीन लोक व तीनों कालों में संसार में पैदा हुआ कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो दुःख को न भोगता हो। अपितु यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जन्म से लेकर मरण पर्यन्त प्रत्येक प्राणी प्रत्येक समय दुःखों का ही सामना करता रहता है। इस पर कोई कह सकता है कि– सब लोग कहाँ दुःखी हैं? बड़े जन तो सब सुखी ही हैं। जैसे– स्कूल में टीचर सुखी हैं। हम बच्चों को मनमर्जी डाँटना, मारना, सजा देना– सब उनके हाथ में है। घर में दादा–दादी सुखी ही हैं, सब उनकी आज्ञा मानते हैं। मम्मी–पापा का तो कहना ही क्या है? उनके मन में जो आता है, वे सब कर सकते हैं, सब उनकी मर्जी से होता है, वे लोग तो अपनी मनमानी करते हैं। दुःखी तो हम बच्चे हैं, जिन

पर सभी बड़े आज्ञा चलाते हैं, न मानो तो मारते हैं, कभी बड़ों को भी कोई मारता है? और तो और पैसा भी उनके पास रहता है। जो खरीदना हो उनकी मर्ज़ी, न खरीदना हो तो भी उनकी मर्ज़ी, घूमना-फिरना, उठना-बैठना सब उन बड़ों की मर्ज़ी से होता है, तो फिर वे दुःखी कैसे? क्या दुःख है उन्हें? पुलिस, सैनिक सभी सुखी हैं, सब पर खूब रौब झाड़ते हैं। महल जैसे ही घरों में रहने वाले मंत्री, प्रधानमंत्री आदि को क्या दुःख हैं? मेरे दोस्त के पास भी इतना बड़ा घर और गाड़ी है, नौकर-चाकर है; वह तो हमेशा हँसता-खेलता रहता है- इन सबको दुःख कहाँ है? होता तो ये खुश कैसे होते? यदि वे खुश हैं तो, संसार के समस्त प्राणी दुःखी कैसे हैं?

अवस्था की दृष्टि से यदि हम विचार करें तो आपमें से कुछ जन यह भी कह सकते हैं कि- यद्यपि यह सही है कि बच्चों को बहुत दुःख है। बचपन के दुःखों से तो हम सभी जन भुक्तभोगी हैं। जब तक हम बोल नहीं सकते थे; तब तक भूख-प्यास, सर्दी- गर्मी आदि के न जाने कितने कष्ट सहे थे। बीमारी हमें हो या ना हो, हर माह इंजेक्शन-टीके हमें लगते ही रहते थे। जब थोड़े बड़े हुए, तब भी हम पर कितनी बंदिशें थीं। पराधीनता का वह दुःख आज भी नहीं भूले हैं। हर बड़ा व्यक्ति हम पर ऑर्डर चलाता था। गुस्सा किसी पर भी क्यों ना आ रहा हो, गलती किसी की भी क्यों न हो? पर पिटते हम ही थे। मानो पिटना हमारा और पीटना उनका जन्मसिद्ध अधिकार हो। आप में से कुछ जन कह सकते हैं कि- दुःख तो जब हम छोटे थे तब थे, अब हमें कोई दुःख नहीं। हम जल्दी-जल्दी बड़े होना चाहते थे, पर अब हम बड़े हो चुके हैं। अब हम 10वीं का एग्जाम दे चुके हैं, अब हम टेंशन फ्री हैं। अब हम कॉलेज जाने वाले हैं। स्कूल की पढ़ाई, बंदिशें सभी टेंशन से फ्री, अब हमारे मज़े ही मज़े हैं। अब हम हमारी सारी इच्छाएँ पूरी करेंगे।

जिन्होंने कॉलेज का स्वाद चख लिया है, वह भविष्य को उज्ज्वल बनाने की चिंता में डूब गए हैं, वो इच्छाओं के ताने-बाने में उलझ गए हैं और जो बड़े हो गए हैं, वो सोचते रहते हैं कि- काश! वह दिन लौट आए, जब चिंता रहित थे। हम अपने दिन मात्र खाने और खेलने में ही बिताया करते थे। कवि के शब्दों में कहूँ तो- कैसे भूला जा सकता है, बचपन का वह अतुलित आनंद और उनकी इच्छा होती है-

हम भी अगर बच्चे होते, खाने को मिलते लड्डू-पेड़े।

जहाँ तक वृद्धावस्था का सवाल है तो वृद्ध तो कोई होना ही नहीं चाहता। यद्यपि वृद्धावस्था के दुःख सभी ने भोगे नहीं, पर उनसे हम अपरिचित भी नहीं। बुढ़ापा! वह तो दुःखों का ही घर है। न जाने कितनी बीमारियाँ घेर लेती हैं उस अवस्था में। हमें तो नहीं चाहिए ऐसी लाइफ। ऐसी लाइफ से तो मृत्यु अच्छी।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अवस्था की दृष्टि से यदि हम विचार करते हैं तो बाल्यावस्था व वृद्धावस्था में तो सभी दुःख स्वीकारते ही हैं।रहा प्रश्न युवावस्था का तो युवावस्था में भी इच्छाओं की उपस्थिति से तो कोई इंकार नहीं करता और इच्छा दुःख स्वरूप है ही– इसकी चर्चा हम पहले कर ही चुके हैं।

यदि हैसियत की दृष्टि से विचार किया जाए तो (अधिकांशजन) सभी गरीबी में दुःख और अमीरी में सुख मानते हैं। पर वास्तव में क्या अमीर सुखी हैं। उनके दुःखों की दास्तां पिक्चर में तो हमने देखी ही है, अन्य दुःखों के साथ–साथ उन्हें एक दुःख और होता है–स्टैंडर्ड मेंटेन करने का दुःख। दूसरी बात यह है कि पैसा कमाने का जितना टेंशन, जितनी लालसा, इच्छा गरीब को होती है, उतनी ही अमीर को भी। वस्तुतः सुख–दुःख तो पैसों में नहीं है। सुख–दुःख तो इच्छा के कम अधिक होने से होता है; अतः यदि पैसा कम हो और इच्छा भी कम हो तो दुःख कम होता है तथा पैसे अधिक हों पर इच्छा भी अधिक हो तो दुःख अधिक होता है। सुख तो इच्छा के घटने से बढ़ता है, इच्छा के बढ़ने से घटता है, पैसों से उसका कुछ लेना–देना नहीं है। संपूर्ण दुःख तो इच्छा के समाप्त होने पर समाप्त होता है।

यदि स्वास्थ्य की दृष्टि से विचार किया जाए तो शारीरिक कष्ट गरीबी–अमीरी नहीं देखते, मृत्यु भी गरीबी–अमीरी नहीं देखती। ये सारे दुःख सभी को समान रूप से होते हैं। पैसों से इलाज में फर्क पड़ सकता है, पर कष्टों में नहीं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि स्वास्थ्य की दृष्टि से विचार करें तो बीमारी का दुःख सभी वर्ग को सभी अवस्था में भोगना ही पड़ता है।

संक्षेप में कहें तो सुखी–दुःखी होना बाह्य कारण के आधीन है, इच्छा के अधीन है। जिसके तीव्र कषाय से इच्छा अधिक उसे दुःखी कहते हैं, मंद कषाय से जिसके इच्छा कम है, उसे सुखी कहते हैं। वस्तुतः तो दुःख ही थोड़ा या अधिक है, सुख नहीं है। अनेक दुःखों से पीड़ित संसारियों में कोई भी सुखी नहीं है। ऐसे अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित संसारी जीवों को दुःखों से बचने का उपाय ही आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथों में बताया है।

–●–

जैन बाल साहित्य के उत्कृष्ट लेखन हेतु अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् द्वारा **विद्वत्रत्न की उपाधि** से सम्मानित विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया को 8 मार्च 2008 को महिला दिवस के अवसर पर मुम्बई की महापौर के शुभ कर कमलों से भी सम्मानित किया गया है। आपका जन्म अशोकनगर (म.प्र.) में 30 जनवरी 1958 को हुआ।

आपके द्वारा एम.ए. में लघुशोध निबंध के रूप में लिखी गई पुस्तक मात्र 19 वर्ष की अवस्था (27-11-1977) में प्रकाशित हो गई।

आधुनिक बाल जैन साहित्य की प्रणेता आपने **जैन सिद्धान्तों को सर्वप्रथम पहेलियों के रूप में** प्रस्तुत कर जैन बाल साहित्य को नई दिशा प्रदान की है। खेल-खेल में **गेम्स के माध्यम** से बच्चों में जैन सिद्धान्तों का बीजारोपण करने का प्रयास सर्वप्रथम आपके द्वारा किया गया। आपके द्वारा लिखी गई बाल पुस्तकों में पहेलियों, कविताओं और प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गए पाठों के माध्यम से तत्त्वज्ञान एवं भेदज्ञान कराया गया है। आध्यात्मिक जगत में ऐसा कोई घर न होगा, जहाँ आपके द्वारा लिखित बाल साहित्य, राम कहानी आदि साहित्य उपलब्ध न हो। बच्चों में बचपन से ही धार्मिक संस्कार कैसे डालें - उसकी ट्रेनिग आप देती रहती हैं। आपने विभिन्न आयुवर्ग को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न शैलियों में अध्यात्म को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया है। गद्य-शैली, पद्य-शैली, चम्पू (गद्य-पद्य मिश्रित) शैली, पत्रशैली, डायरीशैली, छोटे-छोटे मंचन योग्य नाटक, बड़े-बड़े नाटक आदि साहित्य की विभिन्न विधाओं के दर्शन आपकी कृतियों में होते हैं। आपने जैनदर्शन को आधुनिक पद्धति से पढ़ाने का एक व्यवस्थित कोर्स भी तैयार किया है।

आपके निर्देशन में सर्वप्रथम युवाओं के लिए देश भर में **art of happy living** नाम से सेमीनार कम वर्कशॉप के अनेकों आयोजन भी किए जाते हैं। धर्म प्रचारार्थ आप देश-विदेश की यात्राएँ करती रहती हैं।

आपके निर्देशन में 'परमागम ऑनर्स' शास्त्री कोर्स का आरम्भ जुलाई 2016 से हो गया है। आप दिव्य ध्वनि प्रचार-प्रसार (सर्वोदय) ट्रस्ट की अध्यक्ष, अखिल भारतीय विद्युत परिषद के महिला प्रकोष्ठ की भी अध्यक्ष हैं। अन्य अनेकों महिला संगठनों में आप किसी न किसी रूप में जुड़ी हैं। समयसार विद्या निकेतन ग्वालियर की आप निर्देशक हैं। वर्तमान में आप पी.एच.डी. की गाईड भी हैं। किसी भी विषय से पी.जी. किए हुए व्यक्ति यदि जैनदर्शन में पी.एच.डी. करना चाहते हैं तो आपके निर्देशन में कर सकते हैं।